उत्सर्गपत्र

जिनकी

विद्या, बुद्धि और प्रतिभा

पर

वृद्धा भारत-माता

का

भविष्य अभ्युदय निर्भर है उन्हीं प्यारे
नवयुवक मित्रों

के

कर-कमलों में लेखक का

यह

हार्दिक प्रेमोपहार

"दयानन्द चरित"

समर्पित है।

निवेदन

इस पुस्तक की लम्बी चौड़ी भूमिका लिखने की आवश्यकता नहीं है केवल एतन्मात्र निवेदन है कि लेखक और प्रकाशक दोनों का उद्देश्य यह है कि थोड़े दामों में महापुरुषों के चरित्रों से हिन्दी पाठक लाभ उठावें और अपना चरित्र-संगठन करें। बस इस उद्देश्यवश ही चरित-माला की यह दूसरी पुस्तक "स्वामी दयानन्द चरित" पाठकों की सेवा में भेंट की जाती है। कहा नहीं जा सकता कि पाठकों को यह उपहार पसन्द आवेगा या नहीं।

यद्यपि जैसी मेरी इच्छा थी, वैसा "स्वामी दयानन्दचरित" नहीं लिखा गया है, तथापि इस पुस्तक में स्वामी जी के जीवन की मुख्य मुख्य घटनाओं का संग्रह कर दिया है। ओंकार प्रेस के स्वामी और मेरे प्रिय मित्र पं० ओंकारनाथ वाजपेयी ने बहुत थोड़े समय में इस पुस्तक के तैयार करने की आज्ञा की। अतएव मित्र की आज्ञा टालना उचित न समझ कर, यह पुस्तक अति शीघ्रता में और इतने थोड़े समय में लिखी गई है कि यदि उस समय का यहां उल्लेख कर दिया जावे तो पाठकों को विश्वास भी न होगा। इसलिये अपना सारा दुखड़ा न रोकर, केवल इतनी प्रार्थना है कि जहां कहीं भूल चूक हो गई हो, पाठक क्षमा करें। इस पुस्तक के लिखने में मुझे कई पुस्तकों से सहायता मिली है, जिनके लेखक और प्रकाशकों को हार्दिक धन्यवाद है।

निवेदक
नन्दकुमार देव शर्मा
प्रयाग

ऋषि दयानन्द

मानसिक मुक्ति का प्रदाता

और

हिन्दूसमाज का संरक्षक

प्रस्तावना

अंगरेज़ी के प्रसिद्ध लेखक कारलाइल ने लिखा है:—"Universal History, the history of what man has accomplished in this world, is at the bottom of the great men who have worked here." इसका शब्दार्थ यह है कि सार्वजनिक इतिहास अर्थात् उन कामों का इतिहास जिनकी पूर्ति मनुष्य ने इस संसार में की है उन महापुरुषों के तले है, जिन्होंने यहां कार्य किया है। वास्तव में विचारा जाय तो कारलाइल के उपर्युक्त कथन में बहुत कुछ सचाई भरी हुई है। क्योंकि व्यक्तियों से ही इति-हास बनता है और इतिहास ही मनुष्यों के चरित्र गठन और राष्ट्रनिर्माण में सहायता देते हैं। यदि इस विचार से ऋषि दयानन्द के चरित्र की आलोचना की जाय तो एकोनविंशति शताब्दी के महापुरुषों में विशेषतः भारत-माता के सपूतों में

दयानन्द का स्थान बहुत ऊंचा है। ऋषि दयानन्द ने अपना समस्त जीवन भारत में राष्ट्र निर्माण तथा नव्य भारत के चरित्र गठन करने में ही व्यतीत किया था। उनका जन्म इस देश के लिये हुआ था वे इस देश के लियेही रहे थे और अन्त में इस देश के निमित्त ही उनकी मृत्यु हुई। भारतवर्ष का अर्द्ध शताब्दी के नैतिक और धार्मिक इतिहास का दयानन्द के जीवन से बहुत कुछ सम्बन्ध है।

दयानन्द से पूर्व स्थिति का दिग्दर्शन

जिस समय दयानन्द भारतवर्ष की राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक रङ्गभूमि पर आये थे उस समय भारतवर्ष की विशेष कर संयुक्त प्रान्त और पंजाब की आज कल की सी स्थिति नहीं थी। जिस भांति आजकल नवीन प्रेसएक्ट ने अखबारों की स्वाधीनता हरण कर रक्खी है, उसी भांति पुराने विचार के लोगों ने अथवा अन्ध विश्वासियों ने नव्य भारत की मानसिक स्वतन्त्रतापर ताला लगा रक्खा था। स्वतन्त्रता के विचारों में पले हुये अनेक व्यक्तियों को समाज के मिथ्या विश्वासों के सामने बुद्धि से शत्रुता करके माथा नवाना पड़ता था। समाज के मिथ्या विश्वास और भय ने हिन्दू समाज की बुद्धि विकाश में बाधा पहुंचा रक्खी थी। जैसा बड़े लोग करते आये हैं, वैसा ही करते रहो यही मूल सिद्धांत उस समय हिन्दूसमाज का था।

सच पूछिये तो उस समय हिन्दू समाज एकदम निर्जीव हो गया था। आशा की ज्योति उसमें से क्षीण हो गई थी और उत्साह का प्रकाश बुझ चुका था। चारों ओर उस समय

हिन्दू समाज में अन्धकार ही अन्धकार छा रहा था। उस समय भारतवर्ष की जो दशा थी यदि उसकी तुलना, मार्टिन-लूथर के पहले यूरोप की स्थिति से की जाय तो अनुचित न होगा। *मार्टिनलूथर से पहले यूरोप में धार्म्मिक अत्याचारों की कमी न थी। धर्मके नाम पर वहां के पोप लोग जन साधारण को ख़ूब ठगते थे।

---

* सुना जाता है कि इन दिनों वहां पोपों के पास दो सोने और लोहे की कुञ्जियां रहती थीं जो व्यक्ति अधिक धन देता था पोप लोग उसे सोने की ताली दिखलाते थे और कहते थे कि इससे तेरे लिये स्वर्ग का द्वार खोल दिया जायगा और जो कम धन देता था, उसको लोहे की कुञ्जी दिखला देते और कहते थे कि तेरे लिये नर्क का द्वार खोल दिया जायगा। ऐसी ही दशा ऋषि दयानन्द के पूर्व भारतवर्ष की हो रही थी, जो अभी तक बिलकुल मिटी नहीं है। आज कल भी सुना जाता है कि अहमदाबाद गुजरात की ओर वल्लभकुल सम्प्रदाय के वैष्णवों में यह चाल है कि जब उनके यहां किसी की मृत्यु होने लगती है तब वे अपने गुरु अर्थात् वल्लभकुली सम्प्रदाय के किसी आचार्य्य को अपने यहां निमन्त्रण देते हैं। गुरु महाराज रोगी अथवा मृतक की छाती को अपने चरणों से स्पर्श करते हैं, इस के लिये वे पूरी दक्षिणा लेते हैं। तथा और भी बहुत सी कुरीतियां इस समय हिन्दू समाज में प्रचलित हैं जिन के यहां उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। रोम के पोपों के समान ही हिन्दुओं में महाब्राह्मण, महापात्र आदि नामधारी एक जाति होती है बहुत सी जातियां अपने स्वजन की मृत्यु के ग्यारहवें दिन मरे हुये मनुष्य के वस्त्र महाब्राह्मण को देते हैं। लोगोंका विश्वास है कि उनको दिये हुए वस्त्रादि मरे हुए व्यक्ति को स्वर्ग में मिल जाते हैं। कभी कभी यह महाब्राह्मण लोग अपना कलेजा पत्थर से भी ज़्यादा कड़ा करके दान दाताओं को तङ्ग किया करते हैं। सन् १९१० में मैंने पटने में इस विषयमें बड़ाही भयङ्कर दृश्य देखा था, एक नवयुवक मर गया था उसके घर में सब अनाथ स्त्रियां रह गई थीं एकादश की क्रिया का समय आया, महाब्राह्मण ने हठ किया कि यातो मुझे बाईसिकिल दो, या कुछ ज़मीन दो। बिचारी स्त्रियों ने रो रो कर बहुत कुछ

पचास वर्ष पहले जब हिन्दू समाज में घोर अन्धकार छा रहा था। हिन्दू समाज के नेता जान बूझकर अथवा असावधानी से हिन्दू समाज की ओर से लापरवाह थे, तब इस लापरवाही से उस समय ईसाई मुसलमान बहुत लाभ उठा रहे थे। क्रिश्चियन मत की लहरें बड़े वेग और बल से हिन्दू समाज को उथल पुथल कर रही थीं। इस्लाम मत के प्रचण्ड आँधी के झकोरों ने क्रिश्चियन मत को और भी सहायता दी थी। ईसाई, मुसलमानों की शङ्काओं, आक्षेपों, और वाक्यबाणों का हिन्दुओं से उत्तर देते नहीं बनता था।

६४ वर्ष पहले अर्थात् सन् १८५२ की एक घटना खां बहादुर मौलवी ज़काउल्ला साहब ने लिखी है उसको पढ़कर पाठक अनुमान कर लें कि उस समय हिन्दू समाज की कैसी स्थिति थी? खाँ बहादुर मौलवी ज़काउल्ला साहब कहते हैं कि सन् १८५२ में दिल्ली के प्रोफ़ेसर रामचन्द्र ईसाई होने को तैयार हुये थे, उस समय वहां पर बनारस का एक पण्डित आया था और माधोदास के बाग़ में वह पण्डित ठहराया हुआ था। लोगों ने प्रोफ़ेसर रामचन्द्र से कहा कि आप पहले उस पण्डित से शङ्का समाधान कर लीजियेगा तब ईसाई हूजियेगा, रामचन्द्र उस पण्डित के पास गये और उनके पीछे पीछे बहुत से लोगों की भीड़ चली। प्रोफ़ेसर रामचन्द्र

अपनी आर्थिक कठिनता महाब्राह्मण को समझायी पर वह न माना। अन्त में जातिके डरके कारण स्त्रियोंने चाईसिकिल महाब्राह्मणको देदी। मेरी समझ में जिन जातियों में महाब्राह्मणों को दान देने की चाल है, उनको वह चाल उठानी चाहिये और सरकार को भी ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये, जिससे सर्वसाधारण इन महाब्राह्मणों के हाथ से तङ्ग न होने पावें।

ने उस परिडत से केवल यही शङ्का की कि यदि हिन्दू धर्म परमेश्वर का दिया हुआ है तो उसमें सब लोग क्यों नहीं आ सकते हैं? हिन्दू धर्म केवल हिन्दूओं के लिये ही क्यों है? इसका उत्तर काशी का परिडत न दे सका प्रोफ़ेसर रामचन्द्र सन्तोषप्रद उत्तर न पाकर सदैव के लिये विमुख होगये। यह दशा केवल पञ्जाब अथवा दिल्ली की ही न थी बल्कि समस्त भारतवर्ष की ऐसी ही दशा हो रही थी। भारतवर्ष का ऐसा कोई प्रान्त खाली न था जिसकी ऐसी दशा न हो। जो काशी संस्कृत विद्या का घर है, जो हिन्दूओं की मोक्ष प्रदायिनी सात पुरियों में से एक है, जो भगवान विश्वनाथ के त्रिशूल से रक्षित कही जाती है; सुनते हैं कि उस काशी में ही परिडत नीलकण्ठ शास्त्री ईसाई हो गये थे, किसी किसी का कहना है कि नीलकण्ठ शास्त्री संस्कृत के अच्छे पंडित थे। "षट् दर्शन दर्पण, सत्यमत निरूपण, रामकृष्ण परीक्षा" आदि ईसाईयों की पुस्तकें उक्त शास्त्री महोदय की ही लिखी हुई कही जाती हैं। ईसाईयों का जनाना मिशन कुलीडिपो वालों की भांति हमारी देवियों को बहकाता था जो अभी तक बन्द नहीं हुआ है। पाठक यह न समझें कि संयुक्त प्रान्त और पञ्जाब की ही यह दशा होगी नहीं बङ्गाल तथा अन्य प्रान्तों की भी ऐसी स्थिति थी।

सभी जानते हैं कि ब्रह्मसमाज, आर्य्य समाज से पूर्व ही प्रातः स्मरणीय राजा राममोहन राय के सदुपयोग से ईसाईयों से हिन्दुओं की रक्षा करने के लिये स्थापित हो चुका था। परन्तु स्वर्गीय राजा राममोहन राय के, असामयिक और अकस्मात् मृत्यु होजाने के कारण ब्रह्मसमाज की दृढ़ स्थापना न हो सकी थी। ब्रह्मसमाज ने क्रिश्चियन मत रूपी

जाल को छुरी से न काटकर जाल को जाल से काटना चाहा जिसका परिणाम बड़ा भयङ्कर हुआ। ब्रह्मसमाज को जिस उद्देश्य से स्थापना हुई थी वह उद्देश्य ही बदल गया। जाति पांति के बन्धन के तोड़ने के लिये उस समय ब्रह्मसमाज ने जिस निकृष्ट उपाय का अवलम्बन किया था उसको सुन कर दुःख होता है। देखिये मि० आर० पालित ने एक स्थान पर प्रसिद्ध ब्रह्मसमाजी बाबू राजनारायण बसु के निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किये हैं:—

At the begninig of 1846, I formally embraced Brahmoism, after the ceremony we publicly drank sherry and ate biscuits to show our disbelief in caste, eating the food forbidden to Hindus and drinking wine were prevelent among the Brahmos of our time as among those of Ram Mohan's days.

इसका भावार्थ यह है कि सन् १८४६ के प्रारम्भ में मैंने ब्रह्म समाज की दीक्षा ग्रहणकी थी दीक्षा संस्कार होजाने पर हमने खुल्लम खुल्ला जातिपांति के अविश्वास दिखलाने केलिये शराब पी और बिस्कुट खाया। जिन खाद्यपदार्थों को हिन्दुओं के लिये मनाई है उन पदार्थों के खाने और शराब पीने की चाल राम-मोहन राय के समय में भी प्रचलित थी और हमारे समय में भी प्रचलित थी। जब इस भांति हिन्दूसमाज की अधोगति हो रही थी उसके रक्षक ही भक्षक बन गये थे तब हिन्दू समाज के नेताओं ने सखी बनकर नाचना और तन मन धन गुसाईं

जी (१) के अर्पण इसके सिवाय अपना और कुछ उद्देश्य नहीं समझा था। सच्ची और सही बात कहने के लिये मुंह बन्द किया जाता था। धार्म्मिक विषयों में (२) तर्क को स्थान न देकर विश्वास को दिया जा रहा था, शूद्र और स्त्रियों को पशुओं से भी गया बीता समझा जाता था। भारत माता की सन्तान अपने यथोचित अधिकारों का महत्व न समझ कर पशु पक्षियों की श्रेणी में पहुंच चुकी थी। उस समय काठियावाड़ के एक कोने में बैठा २ एक ब्राह्मण कुमार सोच रहा था—"माता तेरे क्लेश कैसे दूर हों? जो अज्ञान का प्रचण्ड राज्य फैला हुआ है वह कैसे दूर हो? असत्य को त्याग करके सत्य की महिमा को मनुष्य कैसे ग्रहण करें? आओ! पाठकों!! आओ!!! देखें इस ब्राह्मण कुमार ने इस देश में मानसिक मुक्ति प्रदान करने और हिन्दू समाज की रक्षा के लिये कौन कौन से कठोर क्लेश पुष्पों के समान धारण किये थे। आज भारतवर्ष में, उत्तर भारत में विशेषतः हिन्दू समाज में जो विचारक्रांति हो रही है उसमें उसने क्या उद्योग किया था और उसका वह उद्योग कहां तक सफल हुआ है।

(१) सन् १८५६ के लगभग बम्बई के स्वर्गीय करसनदासमूलजीने अपने अख़बार "सत्यार्थ प्रकाश" में वल्लभकुल सम्प्रदाय के आचार्य की कुछ भ्रष्ट लीला प्रकाशित की थी। इस पर वल्लभकुल सम्प्रदाय के शिष्यों ने करसनदास मूलजी पर नालिश की, लेकिन वल्लभकुल सम्प्रदाय के लोग मुकद्दमा हार गये तब उन्होंने करसनदास मूलजी को जाति बाहर कर दिया।

(२) "भारतमित्र" दैनिक १२वीं फरवरी सन् १९१४ में प्रयाग के सम्वाददाता ने एक चिट्ठी लिखी है जिसमें लिखा है उससे ज्ञात होता है कि भारत धर्म महामण्डल के एक उपदेशक ने श्री गंगा जी की महिमा और "शास्त्र श्रवण" पर व्याख्यान देते हुए कहा था कि शास्त्र श्रवण में तर्क

जन्म, वंशपरिचय और बाल्यावस्था

भारतवर्ष के इतिहास का घोर अन्धकार में पड़े रहने का एक कारण यह भी है कि पहिले इस देश में साधु महात्मा और योगीजन ही नहीं वल्कि वहुत से कवि, ग्रन्थकार और लेखक तक अपने वंश जन्म भूमि आदि का परिचय नहीं देते थे। भारतवर्ष के इतिहास के पन्नेके पन्ने पलट जाइयेगा आप को वहुत कम ऐसे ग्रन्थकार और लेखक मिलेंगे जिन्हों ने अपने निज वृतान्त लिखने की चेष्टा की हो। भारतवर्ष के अनेक कवियों ने दूसरों के वृत्तान्त लिखने में उदारता की पराकाष्टा कर दी है परन्तु उन्होंने अपने सम्वन्ध में थोड़ी सी स्याही ख़र्च करने में भी कञ्जूसी की है। अपने सम्बन्ध में एक दो पंक्तियां लिखना भी उचित नहीं समझा था। उन्हों ने आजकल के कवि और लेखकों की भांति ढाई सौ पृष्ठ की पोथी में चालीस पृष्ट अपने जीवन और कुल कीर्ति के नहीं लगाये थे। इस विषय में कवियों से वढ़कर हमारे देश में अनेक योगी और महात्मा हुए हैं जिन्होंने अपने पूर्वाश्रम के नाम तक का दूसरों को परिचय नहीं दिया था। यदि वे आजकल के अङ्गरेज़ी पढ़े हुए साधुओं की भांति अपने चित्र अपने आप वेचते तो उनके चित्र आज भारतवर्ष के घर घर में दिखलाई पड़ते। अस्तु हमारे कथन का तात्पर्य यह

करना उचित नहीं है, ? क्योंकि तर्क का क्षेत्र वहुत ही विस्तृत है। इस पर सम्वाददाता कहता है "यह स्पष्ट है कि आपकी इस वात को सब लोग सादर स्वीकार नहीं कर सकते, क्या सत्य नहीं है कि युक्ति, तर्क शङ्का, समाधान द्वारा धार्मिक विश्वास दृढ़ होता है। तर्क से डरना निरी निर्वलता है। अस्तु आधुनिक शिक्षित समाज में आप के इस मत का आदर नहीं हो सकता।"

है कि ऋषि दयानन्द उन महापुरुषों में से थे, जिन्होंने अपने जीवन, जन्मभूमि और वंशादि का विशेष वृत्तान्त किसी को नहीं बतलाया था। पूना में विशेष आग्रह से पूछने पर उन्हों ने कहा था कि गुजरात प्रान्त के लोगों को बहुत मोह होता है। यदि मेरे घर के लोग, नातेदार, रिश्तेदार मेरे विषय में कुछ भी सुन पावेंगे तो मुझे इस अवस्था में न रहने देंगे। और मुझे उसी बन्धन में जकड़ देंगे जिस बन्धन से छूट कर मैं यह काम कर रहा हूं। यदि मैं अपना अधिक परिचय दूंगा तो मेरे काम में बाधा उपस्थित होगी। जिस कार्य्य के करने का मैंने बीड़ा उठाया है उस कार्य्य को नहीं कर सकूंगा। अतएव इस भांति अनेक बार बहुत से आदमियों के पूछने पर भी ऋषिदयानन्द ने अपनी जन्मभूमि और अपने माता पिता आदि का कुछ भी परिचय नहीं दिया। यदि स्वर्गीय आर्य्य पथिक पं० लेखराम और श्रीयुत देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ऋषिदयानन्द की जन्मभूमि आदि के पते लगाने का प्रयत्न न करते तो इसमें सन्देह है कि भारतवर्ष की ही नहीं समस्त संसार का जनसंख्या में से अधिकाँश व्यक्ति आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्द सरस्वती के जीवन की अधिकाँश घटनाओं से परिचित होते या नहीं।

काठियावाड़ में मछुकांटारा नदी के किनारे शहर मोरवी बसा हुआ है। यह एक रियासत की राजधानी है, इसीके पास किसी गांव अथवा ख़ास शहर मोरवी में ही ऋषि दयानन्द का संवत् १८८१ तदनुसार सन् १८२४ में जन्म हुआ था। ऋषिदयानन्द का पहिला नाम मूलशङ्कर था। इनके पिता का नाम अम्बाशङ्कर था। अम्बाशङ्कर जाति के औदीच्य ब्राह्मण थे। परन्तु भिक्षावृत्ति आदि कर्म उनके यहां नहीं

होता था। लेन देन का कार्य्य होता था, ज़मीन्दारी थी। इनके यहां ज़मींदारी का पद आजकल की तहसीलदारी के बराबर था, पीढ़ियों से चला आता था, इसलिये मालगुज़ारी उठाने का काम भी इनके यहां था, जिसके लिए राज से सिपाही मिले हुए थे। इनके पिता अम्बाशंकर की यही जीविका थी। धर्म विषय में इनके पिता कट्टर शैव थे।

जब ऋषिदयानन्द मूलशंकर रहते समय केवल पांचवर्ष के ही थे तब वह पढ़ने को बिठला दिये गये। पहले उन्हें देवनागरी अक्षर सिखलाये गये। ब्राह्मणों में विशेषतः दक्षिणी ब्राह्मणों में यह चाल है कि बालकों को बहुत छोटी अवस्था में ही सुन्दर मनोहर और शिक्षाप्रद श्लोक कण्ठ करा देते हैं। इस नियम के अनुसार बालक मूलशङ्कर को भी छोटी अवस्था में ही श्लोक कंठ कराये गये। उनका आठ वर्ष की अवस्था में ही यज्ञोपवीत संस्कार हो गया था। गायत्री सन्ध्या आदि सब उनको सिखला दी गई, उनके पिता थे तो सामवेदी परन्तु शैव होने के कारण मूलशङ्कर को यजुर्वेद संहिता प्रारम्भ कराई, रुद्री उनको कंठ करादी थी। सृष्टि का यह कुछ अटल नियम है कि मनुष्य के धर्म सम्बन्धी जो कुछ विश्वास होते हैं वे ही विश्वास ज़बरदस्ती अपनी सन्तान के मस्तिष्क में ठूंसने की चेष्टा करते हैं। यही कारण है कि बहुत कम ऐसे मनुष्य मिलेंगे जिन्होंने धर्मसम्बन्धी किसी मत को अपनी बुद्धि को कष्ट देकर स्वीकार किया हो। अम्बाशङ्कर अपने पुत्र मूलशङ्कर को भी शैव ही बनाना चाहते थे। जितने शैवमत सम्बन्धी व्रतादि होते वे सब बालक मूलशङ्कर से रखवाये जाते थे। बालक मूलशङ्कर श्रद्धा और

भक्तिपूर्वक व्रत करते थे। कभी २ अम्बाशंकर अपने पुत्र मूलशंकर से मिट्टी के शिवलिङ्ग भी पुजवाया करते थे।

शिव त्रयोदशी का व्रत और वैराग्य

जब अम्बाशंकर जी बालक मूलशङ्कर के मस्तिष्क में ज़बरदस्ती शैवमत के विचार ठूंसना चाहते थे, तब तो एक ऐसी घटना होगई जिसने न केवल मूलशङ्कर के जीवन को ही पलटा बल्कि उस घटना ने भारतवर्ष के नैतिक और सामाजिक विचारों को भी उलट पुलट कर दिया। सच पूछिये तो संवत् १८९४ * माघ कृष्णा त्रयोदशी का दिन भारतवर्ष के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा। उस दिन अम्बाशङ्कर ने अपने पुत्र मूलशङ्कर को शिवत्रयोदशी का व्रत रखने और शिवजी की उपासना के लिये रात्रि भर जागने का परामर्श दिया, यद्यपि मूलशङ्कर की माता ने अपने पति से मना भी किया पर अम्बाशङ्कर राजी न हुये, मूलशङ्कर की अवस्था १४ वर्ष की थी। मूलशंकर ने शिवजी का व्रत रक्खा और रात्रि को जब सब लोग यहां तक कि मूलशंकर के पिता अम्बाशंकर तक निद्रा देवी के वशीभूत होकर सो गये थे, तब बिचारे मूलशंकर इस भय से कि कहीं व्रत का खण्डन न होजाय जागते रहे। आधी रात्रि के समय देखा कि एक चूहा शिवलिङ्ग पर पहुंच कर पूजा के चढ़ाये हुये पदार्थ खा रहा है। बस इससे ही उनके हृदय सागर में अद्भुत विचारों की लहरें उठने लगीं। बस उसी समय उन्होंने पिता को जगाया और उनसे शंका

---

* अन्य प्रदेशों में फाल्गुण कृष्णा १३ को शिवरात्रि का व्रत होता है परन्तु काठियावाड़ में माघ कृष्णा १३ को होता है।

समाधान करना चाहा था, पिता ने कुछ संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया। इस पर वे मन्दिर से चले गये और माता से मिठाई लेकर खाई और सो गये। दूसरे दिन जब पिता ने सुना तो नाराज़ हुये परन्तु मूलशंकर ने स्पष्ट कह दिया कि मुझे मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं है। और उस दिन से उन्होंने व्रत रखना छोड़ दिया।

कालक्रम की घटनाओं को छोड़कर यहां केवल इतनाही कहना है कि दो वर्ष पीछे अकस्मात्—हैजे से उनकी वहिन की मृत्यु होगई, जब घर के लोग रोते और विलाप करते थे तब तो बालक दयानन्द जो उस समय मूलशंकर थे बार बार यही सोचते थे कि मृत्यु क्या है? उससे मनुष्य कैसे पार पा सकता है? पर कुछ निश्चय न हो सका और पूर्ववत् गृहस्थी के कार्य्यों में लग गये। किन्तु* तीसरी बार दो वर्ष पीछे एक और अघटित घटना होगई। जिससे बालक मूलशंकर के हृदय में वही प्रश्न उठा—वहिन की मृत्यु के समान ही मूलशंकर के चाचा का भी देहान्त हैजे से होगया। जो बालक मूलशंकर वहिन की मृत्यु पर नहीं रोये थे, वे चाचा की मृत्यु पर फूट फूट कर रोने लगे।

सचमुच मृत्यु का दृश्य बड़ा भयंकर होता है। इस दुनियां में हम लोग नित्य प्रति देखते हैं कि जब कोई मरजाता है और जिस समय उसका शव श्मशान में पहुंचाया जाता है,

---

* कहते हैं कि महात्मा गौतम बुद्ध को पहली बार एक वृद्ध को देखकर दूसरी बार एक रोगी को देखकर और तीसरीबार एक मुर्दे को देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ था। वही दशा मूलशङ्कर (ऋषि दयानन्द) की हुई। पहली बार शिवलिङ्ग पर चूहे का चढ़ना, दूसरी बार वहिन की और तीसरी बार चाचा की मृत्यु को देखकर उनके विचार पलटे।

तब प्रायः वहाँ पर उपस्थित सभी लोगों के हृदयमें एक प्रकार से वैराग्य की स्फूर्त्ति हो जाती है। प्रायः सभी उपस्थित मनुष्य कहने लगजाते हैं कि अजी! इस संसार में क्या रक्खा है? एक न एक दिन सभी को इस तरह से जाना होगा। पर उन लोगों में ऐसे कितने आदमी होते हैं जो मृत्यु के दृश्य से शिक्षा ग्रहण करके, इस संसार में अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं? किन्तु मूलशंकर का वैराग्य, दुनियां के अन्य मनुष्यों की भांति बनावटी वैराग्य नहीं था। उसका वैराग्य उसको कर्तव्य कर्म में परिणित करनेवाला था। चाचा की मृत्यु मूलशंकर को कर्मयोग में जुटानेवाली थी। अतएव मूलशंकर नेचाचा की मृत्युके समय ही निश्चय करलिया था कि अमर-फल क्या है? इसके प्राप्त करने का उद्योग करना चाहिये। यद्यपि उन्होंने अपना यह वैराग्य माता पर प्रकट नहीं होने दिया तथापि, विद्वानों से, पंडितों से और अपने मित्रों से यथा समय उन्होंने प्रश्न करना आरम्भ कर दिया कि मनुष्य अमर कैसे हो सकता है? उत्तर मिला योगाभ्यास से।

विवाह और गृहपरित्याग

जब माता पिता को यह पता लगा कि मूलशङ्कर को रात्रि दिन योगाभ्यास की धुन सवार हो गई है तब उन्होंने अपने पुत्र का विवाह करना विचारा। परन्तु मूलशंकर ने अपने माता पिता के इस विचार को रोक दिया! संवत् १९०० में मूलशंकर ने पढ़ने के लिये काशी जाने का विचार किया। काशी को संस्कृत विद्या के लिये उस समय भी वही महत्व प्राप्त था जो इस समय है। परन्तु माता पिता ने यह स्वीकार

नहीं किया। *पिता ने उनको इस प्रकार के विचारों से हटा-कर ज़मीन्दारी के कार्य्यों की ओर लगाना चाहा था। परन्तु उनकी इस काम में तबियत नहीं लगी और उन्होंने पिता से कहा कि यदि आप मुझे काशी पढ़ने नहीं भेजते हैं तो यहीं पर जो तीन कोस की दूरी पर एक पण्डित है उसके पास ही पढ़ने को भेज दीजिये। माता पिता इस पर सहमत होगये और उन्हें पढ़ने को भेज दिया। लगभग २१ वर्ष की अवस्था होगी जब मूलशंकर उस पण्डित से पढ़ने को गये थे सुनते हैं कि एक दिन उन्होंने पण्डित से स्पष्ट कहदिया कि "मेरा विचार शादी करने का नहीं है"। उनके इन विचार को सुनकर पण्डित ने उनके माता पिता को इसकी सूचना दी। माता पिता यह सुनकर बड़े असमञ्जस में पड़े और उनका विवाह शीघ्र करना चाहा। धूमधाम से मूलशङ्कर के विवाह की तैयारियां होने लगीं।

"मर्ज़ बढ़ता गया, ज्यों ज्यों दवा की" यही दशा मूल-शङ्कर की हुई. इधर माता पिता उनके विवाह की तैयारियां कर रहे थे. उधर उन्होंने देखा विवाह होजाने से जिन कार्यों के करने का मैंने बीड़ा उठाया है, उन्हें भली प्रकार पूरा न कर सकूंगा। बस यह विचार कर † वे "करतल भिक्षा, तरुतल

---

* गुरु नानक के पिता ने भी दयानन्द के पिता के समान नानक को पहले अनेक कार्य्यों में लगाया, परन्तु नानक को किसी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई।

† शिवाजी के गुरु श्रीसमर्थ स्वामी रामदास जी भी अपने विवाह में से भाग गये थे, कहा जाता है कि स्वामी रामदास का विवाह होरहा था। कई फेरे पड़ चुके थे वे विवाह के बीच में से भाग दिये।

कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध भी इसी भांति छिपकर अपने राजमहलों

वासा" इस सिद्धान्त को ग्रहण करके, घर से चल दिये।

जिस घर में बीस इक्कीस वर्ष से लालन पालन हुआ था जो माता पिता अपने प्राणों से भी अधिक पुत्र को प्यार करते थे। जिन माता पिता को अपने प्यारे पुत्र से बहुत सी आशाएं थीं हाय! आज वही प्यारा पुत्र मूलशङ्कर सदैवके लिये जननी और जन्मभूमि से छिप कर, लुककर अपने संकल्पों को पूरा करने के लिये तथा अपनेकर्तव्यों को पालन करने के लिये विदा हो रहा है। वास्तव में बिछुड़न समय बड़ा ही करुणोत्पादक होता है। एक सहृदय लेखक ने बहुत ठीक लिखा है कि एक मनुष्य के लिये जीवन संग्राम में उससे बढ़कर कोई करुणाजनक दृश्य नहीं होता है जबकि वह अपने माता पितासे, भाई बन्धुओं से, इष्ट मित्रों से, लंगोटिया साथियों से विदा हो कर जीविकाके निमित्त परदेश जाता है। वास्तव में जीवन संग्राम में इससे भी बढ़कर और बहुत सी दिक्कतें आती हैं परन्तु यह बिछुड़ने के समय सदैव स्मरण रहता है। विचारिये पाठक! घर से निकलते समय मूलशङ्कर की क्या दशा होगी? वे जीविका के लिये प्रसन्नता पूर्वक माता पिता से मिलकर नहीं जा रहे थे। किन्तु वे सदैव के लिये छिपकर लुककर घर से विदा हो रहे थे। परन्तु नहीं कर्त्तव्य परायण व्यक्तिके सामने यह सब तुच्छ बातें हैं। मूलशङ्कर के छिप कर चले जाने से मौर्वी नगर ने

में से निकले थे, सोती हुई अपनी धर्मपत्नी तथा दुधमुंहे बच्चे को छोड़ कर चल दिये थे। राजा राममोहनराय सोलह वर्ष की उम्र में बौद्धमत के ग्रन्थ पढ़ने के लिये तिब्बत पहुंच गये थे। कहने का सारांश यह है कि कर्तव्य परायण व्यक्ति के सामने यह सब बातें तुच्छ हैं। जिसके हृदय में किसी कार्य के करने की लगन लग रही हो, वह सब रुकावटों से पार पाजाता है। इतिहास में इस विषय के एक नहीं अनेक दृष्टांत मिलते हैं।

तो एक ज़मींदार का बालक सदैव के लिये खोया परन्तु संसार को एक महान धर्म प्रचारक तथा जाति सुधारकपुरुष प्राप्त हुआ।

घर से बाहर निकलते ही मूलशङ्कर ने सोचा कि अब किधर जाना चाहिये। जिस मूलशङ्कर का अब तक बड़े लाड़ चाव से लालन पालन हो रहा था, जो मूलशङ्कर अपने माता पिता की आंखों का तारा था, जिसके साथ सदैव परछांईं की भांति नौकर चाकर रहते थे, जो कभी अकेला अपने घर से नहीं निकला था, अब वह मूलशङ्कर अकेला था। रात्रि का समय, ज्येष्ठ का महीना, तले धरती और ऊपर आसमान के सिवाय उसका कोई रक्षक और साथी नहीं था। बहुत देर के सोच विचार के पश्चात् अपने गांवके निकट चार कोसकी दूरी पर दूसरे गांव में उसने वह रात्रि व्यतीत की। कोई देख न ले, घर के लोग पहचान न लें यह सोचकर मूलशङ्कर पहर रात्रि रहे ही उस गांव से चल दिये। ख़ास रास्ते से न जा-कर, टेढ़े उलटे मार्ग और पगडंडियों की राह से १५ कोस की मञ्जिल चलकर दूसरे दिन सन्ध्या समय हनुमान जी के एक मन्दिर में जाकर विश्राम किया। वहां पहुंच कर मूल-शङ्कर को मालूम हुआ कि उनका अनुमान ठीक था कि उनके घर के लोग खोज लगा रहे होंगे! एक सरकारी कर्मचारी से पता लगा कि थोड़ी देर पहले वहां पर कुछ सवार आए थे जो यह पूछते थे कि यहां मूलशङ्कर तो नहीं आया?

यद्यपि मूलमङ्कर की अवस्था उस समय बीस, इक्कीस वर्ष की थी, परन्तु वे अपने घर से उस समय तक बाहर नहीं निकले थे, इसलिये उन्हें उस समय तक संसार के भले बुरे का कुछ ज्ञान नहीं था। अतएव मार्ग में उन्हें कुछ ठग साधु मिले,

इन साधुओं ने मूलशङ्कर को यह बहकाया कि "जब तक तुम अपने पास से रुपया पैसा गहने आदि अलग न कर दो तब तक तुम्हें सच्चा वैराग्य उत्पन्न नहीं होगा" विचारा मूलशङ्कर ठग, नामधारी साधुओं की बातों में आगया और जो कुछ अपने पास था सब उनके हवाले कर दिया।

कई स्थानों में घूमते फिरते कितने ही कोस चलकर एक दूसरे गांव में लाला भगतराय के स्थान में पहुंचे। उस स्थान में साधु, सन्यासियों का बड़ा जमघट्ट लगा रहता था। वहां एक ब्रह्मचारीने उनसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो जाने को कहा। उन्होंने ब्रह्मचारी की इस बात को स्वीकार कर लिया उसने तब उनका नाम मूलशङ्कर के स्थान में शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी रख दिया।

——:o:——

पितासे अन्तिम भेंट

*मूलशङ्कर शुद्ध चैतन्य होजाने पर भी योगी, साधु संन्यासियों की तालाश में भटकते रहे। इस बीच में उनकी एक वैरागी से भेंट हुई पर वैरागी, उनका और उनके घरवालों का परिचित था। शुद्ध चैतन्य को इस भेष में देखकर वह वैरागी नाराज़ हुआ। परन्तु शुद्ध चैतन्य उस से अलग होकर सिद्धपुर पहुंच गये, क्योंकि उन दिनों उन्होंने सिद्धपुर में बहुत से योगियों, साधु और संन्यासियों के आने की बात सुनी थी।

परिचित वैरागी ने मूलशङ्कर (जो अब शुद्धचैतन्य हो गये) का समस्त वृत्तान्त उनके पिता तक पहुंचा दिया।

* पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि स्वामी दयानन्द सरस्वती का पहिला नाम मूलशङ्कर था, उसके बाद दूसरा नाम शुद्धचैतन्य हुआ। हमने इस पुस्तक में प्रसङ्गवश जहां तक जिस नाम का सम्बन्ध रहा है, उसका इसी स्थानपर प्रयोग किया है।

यह समाचार पाते ही उनके पिता चार सिपाहियों के साथ सिद्धपुर पहुंच गये। मूलशङ्कर को भगवे वस्त्र पहिने हुए देखकर वे बड़े क्रोधित हुये। उनके कपड़े आदि फाड़ डाले। मूलशङ्कर ने भी पिता के डर के मारे घर चलने की बनावटी इच्छा प्रगट की। परन्तु तिसपर भी अम्बाशङ्कर ने मूलशङ्कर पर कड़ा पहरा बिठला दिया।

किसीने ठीक कहा है कि जहां इच्छाशक्ति प्रबल है वहां उसकी पूर्तिके साधन भी उपस्थित हो ही जाते हैं। जिस भांति शुद्धचैतन्य के पिता के विचार उनको घर ले जाने को अटल थे, उसीभांति शुद्धचैतन्यके विचार भी अविचलित थे। एक रात्रि को जब पहरेवालों को गहरी नींद आगयी थी तब शुद्धचैतन्य चुपचाप एक लोटा जल लेकर पहरे से निकल दिये। लोटा जल लेनेका कारण यह था कि यदि कोई देखेगा तो उससे शौच जाने के लिये कह दिया जायगा। चुपचाप पहरे से निकल कर आधकोस की दूरी पर वटवृक्ष पर चढ़कर अपने को छिपा लिया। वहीं वटवृक्ष पर रात्रि विताई। जब पिता को पुत्र के दूसरी बार भागने का समाचार मिला तो शोक का ठिकाना न रहा, उन्होंने सिपाहियों को शुद्धचैतन्य की खोजके लिये भेजा। सिपाहियोंने चारों ओर ढूंढ़ा यहां तक कि वे वट-वृक्ष तक भी पहुंच गये, परन्तु शुद्धचैतन्यका उनको पता न लगा। शुद्धचैतन्य ने भूख प्यास की कुछ परवाह न करके सारा दिन वहीं पर बिताया। सन्ध्या समय जब सूर्य्य भगवान अस्ता-चल गामी होगये, चारों ओर जब अन्धकार छा गया तब उस वट वृक्ष से उतरे और दो कोस की दूरी पर एक गांव में जा पहुंचे। वहांसे चलते फिरते पहले अहमदाबाद और फिर बड़ौदा पहुंच गये। पश्चात् फिर नर्मदाके किनारे२ घूमते रहे।

वहां उनके जाने की केवल अच्छे योगी और महात्माओं से योग सीखने की प्रवल इच्छा थी। नर्मदा तट पर उन्होंने परमहंस परमानन्द से वहुत सी पुस्तकें वेदान्त विषयक पढ़ीं जिससे वे वेदान्ती हो गये। जीव और ब्रह्म को एक मानने लगे।

संन्यास-ग्रहण

प्राचीन परिपाटी के अनुसार शुद्धचैतन्य को अपना भोजन अपने आप वनाना पड़ता था इससे उनके विद्याध्ययन मे वाधा उपस्थित होने लगी। इस से उन्होंने यही उचित समझा कि संन्यास धारण कर लिया जाय जिससे भोजनकी छूतछात का झगड़ा ही न रहे। वस इस विचारवश उन्होंने चिदाश्रम स्वामी से संन्यास की दीक्षा देने की प्रार्थना की पर चिदाश्रम स्वामी इस वात से सहमत न हुये। उन्होंने कहा अभी ब्रह्मचारी की इतनी थोड़ी अवस्था है कि वह इस आश्रम की कठिनाइयों को सहन नहीं कर सकता। ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य अनुमान डेढ़ दो वर्ष तक नर्मदा तट पर विचरते रहे। इस वीच में चलोदर नामी ग्राम के निकट एक कोस की दूरी पर जङ्गल में एक स्थान पर शृङ्गीमठ के एक दण्डी स्वामी और एक ब्रह्मचारी आ उतरे। इन दण्डी स्वामी का नाम पूर्णानन्द सरस्वती था। और ये द्वारिका की ओर जानेवाले थे। एक दक्षिणी पण्डित जो हमारे चरितनायक शुद्धचैतन्य से वेदान्त सम्वन्धी वहुत सी चर्चा किया करता था, उनको उक्त संन्यासी के पास ले गया और ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य का उक्त संन्यासी महोदय से परिचय कराया। परिचय कराते हुये उक्त पंडित ने शुद्धचैतन्य के सम्वन्ध में कहा कि यह

ब्रह्मचारी ब्रह्म विद्या प्राप्त करने के लिये बड़ा उत्सुक है। आप इसको संन्यास की दीक्षा दीजिये। जिस समय की यह घटना लिखी जा रही है उस समय भारतवर्ष में जाति भेद के बड़े बड़े झगड़े उठ रहे थे। पञ्चद्राविड़ पञ्चगौड़ों को और पञ्च गौड़ पञ्चद्राविड़ों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। सुना जाता है कि उन दिनों में द्राविड़ सन्यासी गौड़ ब्राह्मणों को "रांगड़ा" कहकर टाल दिया करते थे। यद्यपि स्वामी परमानन्द और ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य दोनों द्राविड़ थे तथापि दोनों की जातिमें भेद था। स्वामी परमानन्द महाराष्ट्र थे और ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य गुजराती थे अतएव पहिले स्वामी परमानन्द ने शुद्धचैतन्य को संन्यास की दीक्षा देने में आनाकानी की और कहा कि ये गुजराती हैं और हम महाराष्ट्र हैं इनको किसी गुजराती से ही संन्यास ग्रहण करना चाहिये। इस पर उक्त पण्डित ने कहा महाराज! जब महाराष्ट्र संन्यासी गौड़ों को संन्यास की दीक्षा देते हैं तब इस गुर्जर ब्राह्मण को दीक्षा देने में क्या हानि है? अस्तु जैसे तैसे स्वामी परमानन्द राजीहुये और शुद्ध चैतन्य को संन्यास की दीक्षा दी और उनका नाम 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' रक्खा इस समय स्वामी दयानन्द सरस्वती की अवस्था चौबीस वर्ष की हो गई थी परन्तु उन्होंने जिस सङ्कल्प से घर परित्याग किया था उस सङ्कल्प को अभी तक भूले नहीं थे। संन्यास ग्रहण करने पर पहिले स्वामी पूर्णानन्द से पढ़ते रहे और फिर योग सीखने की इच्छा से योगियों की खोज में भ्रमण करने लगे।

विचित्र विचरण और महन्तगीरी से इन्कारी

संन्यासी हो जाने पर हम स्वामी दयानन्द का जीवन बड़ा ही विचित्र पाते हैं। देखते हैं कि स्वामी दयानन्द योगी महात्मा और संन्यासियों की खोज में स्थान २ में चक्कर लगा रहे हैं। सन्यासी हो जाने पर भी उनकी आत्मा को शान्ति नहीं है। जिस युवावस्था में प्रायः मनुष्यों को भोग विलासके अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं है, उसी युवावस्थामें दयानन्द संसार में शांति की खोज कर रहे हैं। कभी हम देखते हैं कि वे इस अवस्था में योगानन्द स्वामी के पास योग पढ़ रहे हैं, कभी वे छिनाड़े में कृष्णाशास्त्री नामक ब्राह्मण से व्याकरण पढ़ रहे हैं कहीं फिर दूसरे स्थान में जाकर वेद पढ़ते हैं। वेद पढ़ते पढ़ते जब उनको यह ख़बर लगती है कि अमुक स्थान में अमुक योगी अभी आये हुये हैं तो वे वहीं उनके पास योगाभ्यास सीखने को पहुंचते हैं। कहने का सारांश यह है कि इस अवस्था में स्वामी दयानन्द को ब्रह्मविद्या की प्राप्ति की बड़ी लगन लग रही थी। ज़ब कभी जहां पर वे किसी योगी संन्यासी के विषय में सुनते थे वहीं पर वे पहुंचते थे। सारांश यह कि संन्यासी होने पर उन्होंने अनेक स्थानों में भ्रमण किया, और अन्त में हिमालय पर्वत पर पहुंच गये।

सर्दी के दिन थे पर जाड़े की कुछ परवाह न करके हिमालय के मुख्य मुख्य स्थानों में भ्रमण करते रहे। बड़े बड़े कष्ट उठाये कितने ही स्थानों में बर्फ़ के टुकड़े पैरों में चुभाये, कितने ही स्थानों में कांटे और झाड़ियों में घुस गये, पर चित्त को शांति नहीं हुई। जिन सच्चे योगी, महात्माओं की

खोज कर रहे थे, उनका पता नहीं लगा । जिस किसी से पूछते वह उनको पागल बतलाता था।

हिमालय से जब स्वामी जी लौट रहे थे तब मार्गमें उन की एक महन्त से मुलाकात हुई, महन्त ने उनको अनेक लोभ लालच दिये और कहा कि तुम हमारे शिष्य हो जाओ, तुमको ही मैंअपनी सारी गद्दी सौंप दूंगा। इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया कि 'यदि मुझे गद्दी और धन का लालच होता तो मैं अपने पिता की जायदाद क्यों छोड़ता? मेरे पिता की जायदाद तुम्हारी गद्दी की जायदाद से कहीं अधिक है। मेरे जीवन का उद्देश्य धन की कामना नहीं है।" उस महंत ने बहुत कुछ आग्रह किया पर उन्होंने महंतगीरी स्वीकार नहीं की। और वे फिर स्थान स्थान में भ्रमण करने लगे। बदरीनारायण के मंदिर के आस पास जङ्गलों में चक्कर लगाने पर भी उन्हें सच्चा योगी और साधु नहीं मिला। परन्तु वे इससे निराश नहीं हुये और अपने सङ्कल्प की पूर्ति के लिये निरन्तर चेष्टा करते रहे।

गुरुसे भेंट

पहले संयुक्त प्रान्त में विश्वनाथ जी की काशी और भगवान श्रीकृष्ण जी की जन्म भूमि मथुरा संस्कृत विद्या के घर समझे जाते थे। ईश्वर की कृपा से काशी को अब भी वही महत्व प्राप्त है परन्तु मथुरा का गौरव लोप होगया है। किसी समय में मथुरा में संस्कृत के एक से एक धुरंधर विद्वान् होगये हैं। १५-२० वर्ष पहले भी मथुरा में अनेक वैय्याकरण पण्डित थे। पहले मथुरा आजकल की सी नहीं

थी। मथुरा के पण्डित बिना किसी आकांक्षा के छात्रों को संस्कृत विद्या दान दिया करते थे। अब काल की कुटिल गति से पुराने समय के संस्कृत के केवल दो एक विद्वान ही शेष हैं, उनके पीछे मथुरा एक दम वैय्याकरण विद्वानों से शून्य होती दिखलायी पड़ेगी। जिन दिनों स्वामी दयानन्द सरस्वती संसार के समस्त ऐश्वर्य्य को लात मार कर अपनी आत्मा को शान्ति देने के लिये विचर रहे थे उन दिनों मथुरा के प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द सरस्वती के नाम की बड़ी धूम मच रही थी। दूर दूर से लोग स्वामी विरजानन्द से विद्या पढ़ने के लिये आते थे।

यहां पर स्वामी विरजानन्द जी के सम्बन्ध में भी थोड़े से शब्द लिखना अनुचित न होगा। स्वामी विरजानन्द का पंजाब के कर्तारपुर में जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में चेचक के रोग से आंखें जाती रहीं। जब तक माता पिता जीवित रहे तब तक वे अपने अन्धे बालक का लालन पालन करते रहे। परन्तु माता पिता के देहान्त हो जाने पर भाई और भावज ने विचारे विरजानन्द को इतने कष्ट दिये कि वे उकता कर घर से चल दिये।

इसमें सन्देह नहीं कि विरज़ानन्द प्रतिभा सम्पन्न थे। उन्होंने बालकपन में कुछ विद्या प्राप्ति की थी पीछे उन्होंने अपनी बुद्धि के बल से चक्षुओं से हीन होने पर भी संस्कृत के व्याकरण में ऐसी योग्यता बढ़ा ली थी कि वे अपने समय में संस्कृत व्याकरण के अद्वितीय पण्डित समझे जाते थे। अलवर के स्वर्गीय महाराजा विनयसिंह जी उनसे पढ़ते थे। विरजानन्द व्याकरण के जैसे उद्भट पंडित थे वैसे ही स्वभाव के तीखे रूखे और खरे थे। एक दिन अलवर के महाराज के

पढ़ने के समय का ठीक नियम न पालन करने पर वे वहां से मथुरा चले आये और मथुरा में अष्टाध्यायी और महाभाष्य की धूम मचा दी। मथुरा में आज भी स्वामी विरजानन्द, दण्डी जी के नाम से विख्यात हैं। इतने दिन बीत जाने पर भी प्रायः आबाल वृद्ध वनिता आज भी दण्डी जी के नाम से स्वामी विरजानन्द का स्मरण करते हैं।

स्वामी विरजानन्द अष्टाध्यायी महाभाष्य के पठन पाठन के बड़े पक्षपाती थे। सच पूछिये तो अष्टाध्यायी महाभाष्य के पठन पाठन की प्रणाली उन्होंने ही प्रचलित की थी। वे भट्टोजी दीक्षित कृत सिद्धान्तकौमुदी, सारस्वत, चन्द्रिका आदि व्याकरण, श्रीमद्भागवतादि पुराणों के पढ़ाने के विरोधी थे। इन ग्रन्थों को अपने शिष्यों को नहीं पढ़ाते थे। उनके हृदय में इस बात की लौ लगी हुई थी कि इस देश में किसी प्रकार से अष्टाध्यायी, महाभाष्य के पठन पाठन की प्रणाली प्रचलित हो।

जब स्वामी जी ने *स्वामी विरजानन्द सरीखे प्रतिभा शाली विद्वान के सम्बन्ध में सुना तो वे क्यों ऐसे अवसर को चूकने लगे। श्रीयुत देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने अपने बङ्गला चरित में लिखा है कि दयानन्द सम्भवतः वैशाख वा

---

* सुनते हैं कि स्वामी विरजानन्द शरीर के बड़े कृश थे परन्तु उनका देहान्त ६१ वर्ष की अवस्था में हुआ था। शरीर कृश होने पर भी उनमें बल यथेष्ट था। मथुरा में उनके अनेक शिष्य थे। जिनमें से स्वर्गीय पं० युगल किशोर जी शास्त्री मुख्य शिष्य थे। स्वामी विरजानन्द के पास जो कुछ सम्पति थी, वह पं०युगल किशोर जी शास्त्री के नाम करदी। पं० युगल-किशोर जी शास्त्री की भी अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़ाने की बड़ी सुगम प्रणाली थी। उक्त शास्त्री जी के पढ़ाये हुये सैकड़ों विद्वान इस समय हैं।

ज्येष्ठ मास में मथुरा आये थे। सन् १८६० की १४ नवम्बर तदनुसार कार्तिक सुदी २ संवत् १९१७ को दयानन्द मथुरा पहुंचे।

स्वामी विरजानन्द जिस ढङ्ग से अपने और आगन्तुक विद्यार्थियों से बात चीत करते थे, वैसे ही उन्होंने दयानन्द से बातचीत की। दयानन्द का उस समय संन्यासी का भेष था उनके ललाट पर भस्म रेखा, कंठ में रुद्राक्ष की माला, शरीर पर गेरुवा वस्त्र और हाथ में कमंडलु था। अवस्था दयानन्द जी की उस समय लगभग ३५-३६ वर्ष के होगी। दण्डी विरजानन्द दयानन्द से कहने लगे:-"अब तक जो ग्रंथ तुमने पढ़े हैं वे सब मनुष्य कृत ही हैं तुम्हारे हृदय में मनुष्य रचित ग्रन्थों के विचार रहते आर्ष्य ग्रन्थों की महिमा स्थिर नहीं हो सकती है। अतएव जब तक तुम मनुष्य कृत ग्रन्थों को भूल न जाओगे तब तक हम तुमको आर्ष ग्रन्थ नहीं पढ़ावेंगे। भला दयानन्द को इसमें आपत्ति ही क्या थी? वर्षों के परिश्रम और खोज के पीछे उनको ऐसे विद्वान से भेंट हुई। कङ्गाल व्यक्ति को धन प्राप्त होने पर जो आनन्द प्राप्त होता है वह विद्या प्रेमी को किसी विद्वान के साक्षात् से और उससे ज्ञानार्ज्जन करके कम नहीं होता है। विरजानन्द से साक्षात् होने पर दयानन्द के आनन्द का ठिकाना न रहा उन्होंने विरजानन्द की आज्ञा शिरोधार्य की और तत्काल जिन ग्रन्थों को पढ़ने के लिये स्वामी विरजानन्द ने निषेध किया था उनको यमुना के हवाले कर दिया और उसी दिन से विरजानन्द से पढ़ना आरम्भ किया।

विरजानन्द नियम के पालन कराने में बड़े कड़े थे, यह उनसे सहन नहीं होता था कि कोई विद्यार्थी किसी विषय

को अधूरा पढ़कर उनके पास से चला जाय। जब दयानन्द ने अपनी पुस्तक यमुना में फेंक दी, तब दूसरी बात दयानन्द से उन्होंने यह कही कि जब तक तुम अपने भोजनादि की ठीक व्यवस्था नहीं कर लोगे तब तक मैं तुम्हें नहीं पढ़ाऊंगा। क्योंकि भोजन की ठीक व्यवस्था न होने से तुम निश्चिन्त चित्त से नहीं पढ़ सकोगे।

दयानन्द ने अपने गुरु की आज्ञानुसार भोजन और रहने का प्रबन्ध भी कर दिया। मथुरा के विश्रान्तघाट पर लक्ष्मी नारायण के मन्दिर के नीचे एक कोठरी रहने के लिये निश्चित करली। यह बड़ा सुन्दर स्थान है इस स्थान के सामने ही कालिन्दी की कलकल करती हुई धारा बहती रहती है अनेक जल जन्तु कल्लोल करते रहते हैं। रहने के स्थान के अतिरिक्त किसी प्रकार से भोजन की भी व्यवस्था हुई और दयानन्द मन लगा कर पढ़ने लगे।

गुरुभक्ति का ज्वलन्त उदाहरण

हम ऊपर कह आये हैं कि स्वामी विरजानन्द जी का स्वभाव, रूखा, सूखा, तीखा और खरा था। खरा स्वभाव होने के कारण उनमें कुछ क्रोध की भी मात्रा बढ़ी हुई थी। क्रोध आने पर दण्डी विरजानन्द किसी से नहीं चूकते थे। जितना उनका हृदय कोमल था उतनाही क्रोध आने पर कठोर होजाता था। एक दिन उन्होंने गुस्से में आकर स्वामी जी को ऐसी लाठी मारी कि स्वामी जी के हाथ में बड़ी चोट आई और लाठी का निशान जन्म भर नहीं मिटा प्रायः स्वामी जी लाठी के उस चिन्ह को देखकर गुरु का स्मरण किया करते थे।

ढाई वर्ष तक स्वामी जी ने विरजानन्द जी के पास अध्ययन किया। कितनी हीवार विरजानन्द नाराज़ होकर दयानन्द को निकाल दिया करते थे। परन्तु दयानन्द किसी न किसी तरह गुरूजी को प्रसन्न करके आजाया करते थे। सच बात तो यह है कि विरजानन्द से पहले दयानन्द को ऐसा कोई गुरु नहीं मिला था। दयानन्द की विरजानन्द में अविचलित भक्ति थी, विरजानन्द को भी दयानन्द के समान कुशाग्र बुद्धिवाला शिष्य नहीं मिला था इसलिये विरजानन्द भी दयानन्द को बहुत चाहते थे।

पहले समय में हमारे देश में विद्याध्ययन अन्य देशों के समान नहीं था। गुरु शिष्य का सम्बन्ध अपूर्व था। गुरु बिना किसी आकांक्षा के शिष्यों को विद्यादान देते थे शिष्य भी अध्ययन समाप्त करने पर गुरु के सम्मानार्थ अपनी यथाशक्ति गुरु दक्षिणा भेंट करते थे। विचारे कोपीनधारी ब्रह्मचारी दयानन्द के पास क्या था जो वे अपने गुरु को भेंट करते। वे अपने गुरू को प्यारी वस्तु थोड़ीसी लौंग लेकर गुरु दक्षिणा भेंट करने को चले। गुरु के चरणारविन्दों में अत्यन्त भक्ति पूर्वक प्रणाम करके कहाः—"गुरूजी! अब मुझे जानेकी आज्ञा दीजिये, मेरे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मैं गुरु दक्षिणा में भेंट करूं"? इस पर स्वामी विरजानन्द ने कहा—"बेटा मैं गुरु दक्षिणा लिये बिना तुझे नहीं जाने दूंगा, और गुरु दक्षिणा में ऐसी कोई चीज़ भी नहीं मांगूंगा जो तेरे पास न हो"। इस पर शिष्य ने कहा कि "गुरू जी जो आज्ञा हो, वह मैं पालन करने को तैयार हूं"। शिष्य से आशानुरूप उत्तर पाकर स्वामी विरजानन्द ने कहाः—"जा बेटा! इस देश में जो अन्धकार फैल रहा है

उसको दूर कर और पढ़ना लिखना सार्थक कर" । यों स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने गुरु से आशीर्वाद ग्रहण करके विदा हुये।

भ्रमण

गुरू से अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन का नया दृश्य प्रारम्भ होता है। अब तक स्वामी दयानन्द दूसरों से उपदेश ग्रहण करने को जाते थे। परन्तु उनके हृदय में शान्ति का भली भांति सञ्चार नहीं हुआ था परन्तु विरजानन्द के पास ढाई वर्ष तक रहने से उन्हें ज्ञान की ज्योति प्राप्त हुई। अतएव अध्ययन समाप्त करके उन्होंने उपदेष्टा का कार्य आरम्भ किया। मथुरा से आगरे, ग्वालियर, करौली, जयपुर प्रभृति स्थानों में उपदेश करते रहे। जयपुर में उस समय वैष्णव और शैव का झगड़ा चल रहा था। इस झगड़े में दयानन्द ने शैवों का पक्ष लिया। वहां से कृष्णगढ़ होते हुये वे सन् १८६६ में अजमेर पहुंचे। वहां पर भी उन्होंने उपदेश करना प्रारम्भ कर दिया था। अजमेर के पास जो पुष्कर स्थान है उसके मेले में भी उपदेश करते रहे। शास्त्रार्थ के लिये कितनेही पंडितों को ललकारा। अजमेर में स्वामी जी के आगमन की इतनी धूमधाम मच गई थी कि वहां के तत्कालीन कमिश्नर मेजर ए० जी० डेविडसन साहब ने भी मुलाकात की थी! सुना जाता है कि स्वामी जी ने कमिश्नर साहब को भारतवर्ष की धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों में गवर्नमेंट की सहायता से संशोधन करने का परामर्श दिया था।

यहां पर स्वामीजी ने रेपटन साहब असिस्टेन्ट कमिश्नर से भी मुलाक़ात की, साथही कर्नल ब्रुक से जो एक विख्यात् एजेन्ट गवर्नर जनरल हुये हैं उनकी मुलाकात हो गई। कहा जाता है कि उक्त साहब बहादुर गेरुये वस्त्रवालों से बहुत चिढ़ते थे एक दिन स्वामीजी बाग में बैठे हुये थे कि साहब बहादुर चले आये। लोगों ने स्वामी जी से कुरसी हटा लेने को कहा पर वे इस पर राजी न हुये। साहब बहादुर स्वामी जी से बहुत अच्छी तरहसे मिले और अन्त में उन्होंने उक्त साहब बहादुर से गो रक्षा के सम्बन्ध में बहुत बात चीत की जिसको साहब बहादुर ने भी उचित समझा। स्वामी जी अजमेर से कृष्णगढ़, मथुरा, आगरा, मेरठ आदि स्थानों में विचरण करते हुये कुम्भ के मेले पर हरद्वार पहुंचे।

कुम्भ का मेला और एकान्तवास

हरद्वार—हिन्दुओं की मोक्ष प्रदायिनी भूमि समझी जाती है, वास्तव में हरद्वार है भी एक रमणीय स्थान, वृद्धा भारतमाता के विशाल क्षेत्र हिमालय की कक्षा में हरद्वार स्थित है। एक ओर पर्वतमाला अपनी अनुपम छटा दिखला रही है तो दूसरी ओर पवित्र भागीरथी की लहरें कलकल ध्वनि करती हुई यहां पर पहाड़ों को चीड़फाड़ रही हैं। शायद इस अनुपम और चित्ताकर्षण शोभा के कारण ही इस स्थान का नाम हरद्वार है अर्थात् परमेश्वर के यहांका दरवाज़ा नाम पड़ा है, बारह वर्ष पीछे यहां कुम्भ का मेला हुआ करता है। इसमें बड़ी भीड़ इकट्ठी होती है। भारतवर्ष के प्रायः समस्त प्रान्तों के साधु संन्यासी इकट्ठे होते हैं। सन् १८६७ में भी

वहां पर कुम्भ का बड़ा भारी मेला हुआ था। स्वामी दया-नन्द सरस्वती ने इस अवसर पर अपने विचारों के प्रचार करने का अच्छा सुभीता समझा। उस अवसर पर वहां पर हज़ारों ही, साधु संन्यासी और महाराजाओं की भीड़ हुई थी। इतने अगणित व्यक्तिओं के सामने केवल अपने आत्मिक बल के सहारे स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कुरीतियों का खण्डन आरम्भ किया। "पाखंड खंडिनी" नाम की एक पताका फहरादी यद्यपि अगणित व्यक्तियों ने दयानन्द के उपदेशों को सुना, पर नक्कारखाने में तूती की आवाज़ के समान कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में वहां उनको अनुभव हुआ कि केवल मौखिक उपदेशों से ही काम नहीं चलेगा। अभी जो कुछ विद्या पढ़ी है उसके विचार करने की बड़ी ज़रूरत है, यह सोचकर जो कुछ उनके पास था वह एक व्याख्यान के पीछे समाप्ति पर "सर्वं वै पूर्णं स्वाहा" करके सब त्याग दिया। केवल ३५) रुपये का महाभाष्य और एक थान एक आदमी की मार्फ़त अपने गुरुजी के पास मथुरा भेज दिया और कुछ दिन तक एकान्तवास किया।

पुनः प्रचार का कार्य

कुछ दिन एकान्तवास करने के पश्चात् स्वामी जी पुनः प्रचार का कार्य करने को प्रवृत्त हुये। कन्नौज, फ़रुख़ाबाद और कानपुर आदि स्थानों में उन्होंने प्रचार किया। कितनेही स्थानों में यह अफ़वाह फैल गई कि साधु के भेष में दया-नन्द ईसाई पादरी है। इसका उद्देश्य मूर्तिपूजा का खण्डन करके हिन्दू-समाज का क्रिश्चियन समाज में परिणत करनेका

है, परन्तु ऐसी मिथ्या अफ़वाह से दयानन्द का व्रत नहीं डिगा वे ऐसी बातें सुनकर जननी और जन्मभूमि की सेवासे विमुख नहीं हुये। इन्हीं दिनों एक मज़ेदार घटना हुई, जिस का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

दयानन्द घूमते फिरते कर्णवास में पहुंचे और गंगा के किनारे एक कुटी में रहने लगे। उन्हीं दिनों वहां पर वरेली के वड़गूजर रईस राव करणसिंह आये थे। उक्त राव साहब स्वामी रङ्गाचार्य के शिष्य थे. रावसाहब स्वामी दयानन्द सरस्वती से भी मिलने पहुंचे। स्वामी जी से धर्म सम्वंधी बातें करने लगे। स्वामी जी ने उनकी सब बातों का मुंहतोड़ उत्तर दिया और उनके मत की भी कुछ पोल खोल दी। बस फिर क्या था? रावसाहब यहां तक विगड़े कि स्वामी दयानन्द को तलवार से मारने को तैयार होगये, परन्तु दयानन्द के उच्च चरित्र के सामने उनका कुछ वश नहीं चला, क्योंकि स्वामी जी की ओर से गांव के वहुत से ठाकुर थे। ठाकुरों ने स्वामी जी से कहा कि यदि आपकी आज्ञा हो तो हम उनको अभी यहीं जानसे मारदें, इसकी पुलिस में ख़वर दीजिये। इसपर स्वामी जी ने कहा कि जव यह अपना क्षात्र धर्म पालन नहीं कर सका तव हम अपना धर्म क्यों छोड़ें? कहते हैं कि उक्त रावकरणसिंह ने एकवार और भी दयानन्द के वध करने का उद्योग किया था। परंतु उक्त राव की इस विषय में सब चेष्टाएं निष्फल हुईं।

शास्त्रार्थ

स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रचार का वृत्तांत इतना है कि

यदि यह सिलसिलेवार लिखा जाय तो भारी पुस्तक उसी में भर जायगी। अतएव हम प्रचार के कार्य का पूरा विवरण न लिखकर उन्होंने जो २ शास्त्रार्थ किये थे. उनमें से मुख्य २ का वर्णन यहां किये देते हैं। यद्यपि उन्होंने फरुखाबाद आदि कई स्थानों में शास्त्रार्थ किये थे, परन्तु सब से ज़बरदस्त शास्त्रार्थ कानपुर में हुआ। सन् १८६७ के जुलाई महीने में दयानन्द कानपुर पहुंचे थे। उन्होंने अपनी स्वाभाविक रीति के अनुसार निर्भय होकर अपने विचार प्रकट किये। लोगों को यह बुरा लगा। सन् १८६९ की ३१ वीं जुलाई को एक बड़ी भारी सभा हुई, जिसके सभापति वहां के तत्कालीन ज्वाइंट मेजिस्टेट मिस्टर डबल्यू पेन थे। यद्यपि इस शास्त्रार्थ में कुछ निर्णय नहीं हुआ तथापि सहृदय उपस्थित सज्जनों को यह पता लग गया था कि प्रबल पक्ष किसका है? उन दिनों कानपुर से शोलेतूर नामक अख़बार निकलता था उसमें स्वामीजी और शास्त्रार्थ के सम्बंध में बहुत सी गप्पें छपीं जिसका खंडन स्वयं ज्वाइन्ट मेजिस्टेट मिस्टर पेन ने किया और कहा कि उस दिन शास्त्रार्थ में दयानन्द जीते थे।

कानपुर के अतिरिक्त स्वामी जी ने शिवजी के त्रिशूल से रक्षित काशी को तो कई बार हिला दिया था। पहिली बार वे काशी में सन् १८६९ की २२ वीं अक्टूबर को पहुंचे थे। वहां पहुंचते ही उन्होंने हलचल मचा दी। १७ वीं नवम्बर का दिन शास्त्रार्थ के निमित्त निश्चित हुआ। शास्त्रार्थ के दिन भीड़ भी खूब इकट्ठी हुई। काशी के प्रायः सभी नामी नामी पण्डित उपस्थित थे। स्वयं महाराज भी पधारे थे। ठीक तीन बजे दोपहर को शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। उतनी बड़ी भीड़ में उस चिरस्मरणीय दिन अकेले स्वामी दयानन्द पण्डितों के

प्रश्नों का उत्तर देते जाते थे। विषय यह था कि वेदों में मूर्ति पूजा है या नहीं दोनों ओरसे इस विषय पर तर्क वितर्क होता रहा। माधवाचार्य नामक एक पण्डित ने वेद के दो पत्र स्वामी जी के सामने रखकर कहा—"इसमें लिखा हुआ है कि यजमान यज्ञ समाप्ति पर दशवें दिन पुराण का पाठ श्रवण करे"। अब मैं पूछता हूं कि इस स्थल का पुराण शब्द किसके विशेषण रूप से व्यवहृत हुआ है। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि आप पत्र के उस अंश का पाठ कीजिये तब देखा जायगा कि वह विशेष्य है या विशेषण।

तब स्वामी विशुद्धानंद ने उसके पाठ करने के लिये स्वामी जी से ही अनुरोध किया। इसके उत्तर में स्वामी जी ने विशुद्धानंद से ही पाठ करने का अनुरोध किया। इस पर विशुद्धानन्द ने कहा कि हम बिना चश्माके पाठ नहीं करसकते वेद के दोनों पत्रों को दयानन्द के हाथ में देकर पढ़ने के लिये अनुरोध करने लगे। इस प्रकार के बार बार अनुरोध से बाधित होकर उसको पाठ करने के अभिप्राय से वेदके दोनों पत्रों को दयानन्द देखने लगे कि इतने में जबकि पांच सेकेण्ड भी नहीं बीते थे कि विशुद्धानन्द खड़े होकर बोले कि हमें और प्रतीक्षा करने का समय नहीं है हम जाते हैं। दूसरे पण्डितोंने भी विशुद्धानन्द के इस दृष्टान्तका अनुसरण किया और हल्ला करना शुरू कर दिया कि दयानन्द हार गये।

*काशी शास्त्रार्थ पर उस समय के समाचार पत्रों में

*बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के दयानन्दचरित में कई समाचार पत्रकी सम्मतियां उद्धृत की गई हैं वे देखने योग्य हैं उनसे स्पष्ट पता लगता है कि दयानन्द के प्रति काशी की पण्डित-मण्डली ने किस प्रकार का अनानुचित व्यवहार किया था।

विशेषतः अंग्रेज़ी के समाचार पत्रों में जो सम्मतियां निकलीहैं उनसे तो यही पता लगता है कि काशीवालों ने दयानन्द के साथ नीच और असभ्य व्यवहार किया था। इसके बाद दयानन्द कई बार काशी में गये पर वहां की पण्डितमण्डली उनके सामने शास्त्रार्थ के लिये नहीं आई। काशीवालों ने दयानन्द के सम्बन्ध में बड़ी झूंठी अफ़वाहें उड़ाईं। एकबार दयानन्द के काशी में लगातार बाईस व्याख्यान हुये और वहां आर्यसमाज स्थापित होगया। उन दिनों सुप्रसिद्ध सर सैयद अहमद खां काशी के सबजज थे उनके बंगले पर भी स्वामी जी का व्याख्यान हुआ। एकबार काशीवालों की झूंठी रिपोर्ट पर कलक्टर ने स्वामी जी का व्याख्यान रोक दिया। इसपर बड़ा आन्दोलन मचा और कलेक्टर को अपनी पहिली आज्ञा का प्रतिवाद करना पड़ा। इस तरह से कठिनाईयों को पारकरके दयानन्द ने काशी पर अपनी विजयपताका फहरा दी तथा और भी कई स्थानों में दयानन्द ने शास्त्रार्थ किये थे।

कलकत्ते की यात्रा

काशी से दयानन्द कई स्थानों में भ्रमण करते हुये और अपनी वैदिक-वैजयन्ती उड़ाते हुये दिसम्बर सन् १८७२ में कलकत्ते पहुंचे कलकत्ते के बैरिस्टर श्रीयुत चन्द्रसेन ने उन्हें निमन्त्रण दिया था। कलकत्ते में उनकी वक्तृताओं का विशेष प्रभाव रहा। उस समय "हिन्दू पेट्रियट" "इण्डियन मिरर" आदि पत्रों ने स्वामी दयानन्द की वक्तृताओंको विशेष प्रशंसा कीथी। ब्रह्मसमाज के प्रधान नायक बाबू केशवचन्द्रसेन प्रायः उनके पास आया करते थे। बहुत से विषयों पर चर्चा होती

रही। वहां उन्होंने श्रीयुत द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर से दर्शनशास्त्रों पर वार्तालाप करते हुये यह भी कहा था कि कपिल का सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी ग्रंथ नहीं है। यद्यपि श्रीयुत देवेन्द्र-नाथ ठाकुर उस समय वहां उपस्थित नहीं थे परन्तु उनके पुत्रों ने स्वामी जी को अपने यहां निमन्त्रण दिया था। स्वामी जी उनके यहां गए थे और धर्मसम्बन्धी विषयों पर खूब बात चीत की। विशेषतः देवेन्द्रनाथ के अन्यतम और स्वर्गीय पुत्र हेमेन्द्रनाथ के साथ आत्मा की स्वाधीन इच्छा के विषय में विचार हुआ। स्वामी दयानन्द स्वाधीन इच्छा के पक्षपाती थे, यहां तक कि उन्होंने स्वाधीन इच्छा के पक्ष में वैदिक प्रमाणों का प्रदर्शन करके हेमेन्द्रनाथ को विस्मित कर दिया। लगभग तीन मास के स्वामी जी कलकत्ते नगर में रहे थे। वहां स्वामी दयानन्द का विचार एक वेदविद्यालय स्थापन करने का था। परन्तु कुछ हुआ नहीं। कलकत्ते में ही बाबू केशवचन्द्र सेन ने स्वामी जी को हिन्दी भाषा में व्याख्यान देने की सलाह दी थी। क्योंकि स्वामी जी की संस्कृत वक्तृताओं के भावों को सर्व साधारण को समझाने के लिये अनुवाद करने वाले पलट दिया करते थे।

स्वामी दयानन्द कलकत्ते से पहिली एप्रिल सन् १८७३ को हुगली पहुंचे। वहां उन्होंने श्रीयुत वृन्दावन चन्द्रमण्डल नामक महाशय के घर पर वक्तृता दी वहां स्वामी जी की वक्तृता का प्रभाव कैसा रहा इस विषय में हमें प्रसिद्ध वङ्ग-साहित्य-सेवी श्रीयुत अक्षयचन्द्र सरकार ने वङ्गभाषा में दया-नन्द चरित के लेखक श्रीयुत देवेन्द्रनाथ मुख्योपाध्याय को जो चिट्ठी भेजी थी, वही यहां उद्धृत करते हैं। उक्त सरकार महाशय लिखते हैं:—"हमारे सामने चुचड़ा के मण्डलों के

घर में परिडतवर दयानन्दने एक दिन अपराह्न में वक्तृता दी थी। उस समय भट्टपल्ली के कई पण्डित उपस्थित थे। उनके अति सहज संस्कृत बोलने की क्षमता को देखकर हमने उनका मन ही मन में सौ बार प्रशंसा की थी। इससे पहिले हमारा यह विश्वास नहीं था कि ऐसी सहज संस्कृत में अति कठिन विषयों का व्याख्यान हो सकता है। उनकी प्रचुरभङ्गी से उनकी भाषा को सहज ही में अनेक लोग समझ जाते थे।

हुगली में अनेक सज्जनों के अनुरोध से ताराचरण तर्करत्न जो काशिराज की सभा के पण्डित थे, स्वामी जी से मूर्ति पूजा पर शास्त्रार्थ करने को सहमत हुये। मंडल बाबू के मकान पर ही सभा हुई, तर्करत्न महाशय और हुगली के बहुत से पण्डित, स्वामी दयानन्द से मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ करने को आये। इस सम्बन्ध में श्रीयुत देवेन्द्रनाथ मुख्योपाध्याय लिखते हैं कि श्रीयुत ताराचरण तर्करत्न, स्वामी जी से शास्त्रार्थ में पराजित हुए और उन्होंने शास्त्रार्थ के पश्चात् स्वामी दयानन्द के सद्भाव से पूछने पर सरलभाव से कह दियाः— मूर्तिपूजा मिथ्या तो है ही, परन्तु हम तो उदरपूर्ति के लिये इसका समर्थन करते हैं। ऐसा न करें तो महाराज काशी बिना विलम्ब ही बाहर निकाल दें"।

बम्बई की यात्रा।

हुगली से चल कर दयानन्द स्वामी बिहार प्रान्त के कई स्थानों में भ्रमण करते हुये कानपुर और फ़र्रुख़ाबाद पहुंचे। इस बीच में उन्होंने पश्चिमोत्तर प्रदेश (अब संयुक्तप्रान्त) के तत्कालीन छोटे लाट सर चार्ल्स म्योर से मुलाक़ात की थी। सुनते हैं कि स्वामी दयानन्द ने सर चार्ल्स म्योर से अनेक

विषयों पर वार्त्तालाप करते हुये, भारतवर्ष जैसे कृषिप्रधान देश में गोरक्षा की विशेष आवश्यकता बतलायी थी। उक्त छोटे लाट ने स्वामीजी के प्रस्ताव से अपनी सहानुभूति प्रकट की थी। इन्हीं दिनों स्वामी जी ने अलीगढ़, वृन्दावन और मथुरा आदि कई स्थानों में व्याख्यान दिये थे। प्रयाग में भी सन् १८७४ के सितम्बर मास तक रहे थे। जबलपुर नासिक आदि स्थानों में दौरा करते हुए नवम्बर सन् १८७४ में वम्बई पहुंचे। उस समय का वम्बई आज कल का सा न था। वर्त्तमान समय की भांति वम्बई उस समय भी व्यापार का प्रधान स्थान था, परन्तु उस समय वहां शिक्षा का उतना प्रचार नहीं था, जितना अब है। इने गिने पारसियों को छोड़ कर उस समय वहां की अन्यान्य जातियों में शिक्षा का वहुत कम प्रचार था। वल्लभकुल सम्प्रदाय के आचार्य्यों का वहुत ज़ोर था कुछ थोडे से पढ़े लिखों ने वहां पर प्रार्थना समाज स्थापित कर रक्खी थी। स्वामी दयानन्द ने वहां पहुंचते ही पहले वैष्णवों के प्रति अपनी आवाज़ उठाई वल्लभकुल सम्प्रदाय के आचार्य्यों के कारण वहां पर जो कुरीतियां प्रचलित थीं उनकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि वहुत से लोग स्वामी दयानन्द के प्राण लेने को उतारू होगये थे। उनके रसोइयों को लोगों ने विष देने के लिये भड़काया था। परन्तु स्वामीजी के शत्रुओं की चेष्टायें निष्फल हुईं। वम्बई के कट्टर पंडित इसके अतिरिक्त और कुछ न कर सके कि उन्होंने विना किसी का नाम दिये हुए एक इश्तिहार निकाला। जिसमें चौवीस प्रश्न स्वामी जी से किये गये थे। यद्यपि उक्त इश्तिहार गुमनाम था, उसमें किसी के हस्ताक्षर नहीं थे, तथापि दयानन्द ने सब प्रश्नों का उत्तर दिया।

आर्य्य समाज की स्थापना

बम्बई से स्वामी जी अहमदाबाद और राजकोट गये थे। वहां से पुनः दूसरी बार १८ वीं जनवरी सन् १८७५ को बम्बई आगये थे। मालूम होता है कि कलकत्ते में ब्रह्मसमाज और बम्बई में प्रार्थना समाज को देख कर शायद स्वामी जी के जी में भी यह बात समागई थी कि बिना किसी नियमित संस्था के स्थापित किये हुये सफलता प्राप्त नहीं हो सकती है, न सामाजिक विषयों में सुधार हो सकता है। इस विचार वश आर्य-समाज के नियमादि बनाये गये और १० वीं एप्रिल सन् १८७५ को बम्बई में * पहले पहल आर्य समाज स्थापित हुआ। उसमें २८ नियम, उपनियम बनाये गये। जिनमें से आर्य्यसमाज के मुख्य दश नियम हैं, जो विशेषतः सिद्धान्त विषयक समझे जाते हैं।

पूना में व्याख्यान

ऋषि दयानन्द के व्याख्यानों ने पेशवाओं की राजधानी पूना के निवासियों की भी मोहनिद्रा भङ्ग कर दी थी। उन्होंने पूना में लगभग पन्द्रह व्याख्यान दिये थे। पूना में उनके व्याख्यानों का कैसा प्रभाव पड़ा था और वहां के शिक्षित समाज ने स्वामी जी का कैसा स्वागत किया था। इस विषय में हम स्वयं कुछ न लिखकर बम्बई के सुप्रसिद्ध देशहितैषी, स्वर्गीय श्रीयुत महादेव गोविन्द रानाडे की धर्मपत्नी श्रीमती

---

* भाषा में दयानन्द चरित्र के लेखक श्रीयुत देवेन्द्रनाथ मुख्योपाध्याय अपने "आदर्श सुधारक दयानन्द नामक" पुस्तकमें लिखते हैं कि सब से पहिले आर्यसमाज राजकोट में स्थापित हुआ था।

रमाबाई रानाडे ने अपने पूज्यपति—रानाडे महोदय का जीवन चरित जो मराठी भाषा में लिखा है उसमें इस विषय में जो कुछ लिखा है, उस पुस्तक के हिन्दी अनुवादित पुस्तक का कुछ अंश यहां उद्धृत किये देते हैं "लाहौर से स्वामी दयानन्द पूना आये यहां भिड़े के दीवानखाने में रोज़ उनके व्याख्यान होते थे। संध्या समय आप (जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे) को दो ढाई घन्टे वहीं व्याख्यान सुनाते तथा प्रबन्धादि में लग जाते थे। उनके जाने के समय लोगों ने उनका जुलूस निकालने का विचार किया। इस पर विरोधियों में बड़ी खलबली मची। जो लोग कभी धर्म का नाम भी न लेते थे, वे भी इस समय विरोधियों में मिलगये और स्वामी जी के विरुद्ध उपाय सोचने लगे। इधर हमारे यहां (जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे के यहां) सब लोग एकत्र होकर स्वामी जी के जुलूस का प्रबन्ध करने लगे। जुलूस निकलने के दिन, सवेरे छः बजे ही विरोधियों ने गर्दभानन्दाचार्य की सवारी निकाली। यह सवारी सन्ध्या के छः बजे तक शहर में चारों ओर घूमती रही। सुबह सात बजे यह ख़बर हमारे (जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे के) यहां पहुंची। सब लोग उसे सुनकर खूब हंसे उसी समय पुलिस के कुछ सिपाही बुलाने के लिये पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट को पत्र लिखा गया।

उस दिन सन्ध्या समय नियमानुसार फिर सब लोग व्याख्यान के लिये नियत स्थान पर एकत्रित हुए। स्वामीजी अच्छे वक्ता थे, उनका भाषण अत्यन्त गम्भीर था। उनकी बातें धार्मिक और आलङ्कारिक होती थीं। इसलिये श्रोता तल्लीन होजाते थे। पहले स्वामी जी ने १५-२० मिनट तक उपस्थित लोगों को नित्य आकर व्याख्यान सुनने के लिये धन्यवाद

दिया और कृतज्ञता स्वीकार की। "पान सुपारी" के बाद स्वामीजी को मालाएं पहनाईगईं। हाथी और पालकी आदि का प्रबन्ध पहलेही से हो चुका था। पालकी में वेद रखे गये और स्वामीजी हाथी पर बैठाए गये ज्योंही जुलूस चलने लगा, त्योंही विरुद्ध दल के कुछ आदमी आकर अगड बगड बकने लगे। जगह २ पर उस पक्ष के और लोग भी खड़े थे। जो उन लोगों को दङ्गा करने के लिये उत्तेजित करते थे। उस दिन वर्षा होने के कारण रास्ते में कीचड़ हो गया था। जब जुलूस चुपचाप चलने लगा तो लोगों ने जो कुछ उनके हाथ में आया उस पर फेंकना आरम्भ किया। जिन लोगों के हाथ खाली थे वे कीचड़ फेंकने लगे। परन्तु जुलूस के लोगों ने पीछे फिर कर देखा भी नहीं। पुलिस के सिपाहियों से कह दिया था कि जब तक हम लोग न कहें बीचमें न पड़ना। जब जुलूस दारूवाले के पुल तक पहुंचा तो लोगों ने ईंट पत्थर भी फेंके परन्तु वे पुलिस के लोगों के नहीं; राह चलतों के लगे। इस पर पुलिस ने दस्तन्दाज़ी की और वे लोग भाग गये।

दिल्ली दरबार

हिन्दुओं की प्राचीन राजधानी और वृटिश गवर्नमेन्ट की अर्वाचीन राजधानी इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) को ३०—३५ वर्ष में तीन चार दरबार का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है, जिन दिनों स्वामी दयानन्द नव्यभारत के सङ्गठन में लग रहे थे, उन दिनों में भी दिल्ली में बड़ी धूमधाम से पहला दरबार हुआ था। श्रीमती महारानी विक्टोरिया के मस्तक पर इङ्गलैंड का

मुकुटमणि था। यह दरबार महारानी विक्टोरिया के भारत की सम्राज्ञी की उपाधि ग्रहण करने के उपलक्ष में हुआ था। प्रचार के कार्य में दयानंद कभी समय को नहीं चूकते थे, वे इस अवसर पर दिल्ली पहुंचे। वहाँ पर पञ्जाब के मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, बाबू नवीन चन्द्रराय, बाबू केशवचन्द्रसेन, सर सय्यद अहमदखां प्रभृति और भी अनेक सज्जन गये थे। इन सब सज्जनों से मिलकर स्वामी जी ने अपनी यही इच्छा प्रकट की कि धर्म सम्बन्धी आपस का विरोध दूर करदिया जाय। इस विषय के लिये एक सभा भी हुई थी। बाबू केशवचन्द्र सेन दरबार के समय दिल्ली में आये थे। स्वामी जी की और बाबू केशवचन्द्र सेन की भेंट भी नित्य-प्रति हुआ करती थी परन्तु कुछ निश्चय न हो सका।

पञ्जाब में प्रचार

अनेक स्थानों में भ्रमण और शास्त्रार्थ करते हुए सन् १८७७ में श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती भारतवर्ष में आर्य्यों की प्राचीन और आदि भूमि पञ्चनद पहुंचे। जिन कार्यों के लिये दयानन्द को संयुक्त प्रांत, बम्बई और कलकत्ता में सफलता प्राप्त नहीं हुई थी, उन कार्य्यों में उनको ऋषि मुनियों की प्राचीन भूमि पञ्जाब में सफलता प्राप्त हुई और अच्छी प्राप्त हुई। पञ्जाब की राजधानी लाहौर में स्वामी जी के उपदेश और व्याख्यानों की धूम मच गई और आर्यसमाज स्थापित हुआ। यहां पर बम्बई में आर्यसमाज स्थापित करते समय उन्होंने जो दश नियम बनाये थे, उनका फिर संशोधन किया। वहां से फिर मुलतान, गुरुदासपुर, रावलपिन्डी, झेलम वज़ीराबाद और गुजरात गये। जहां कहीं वे गये वहां उन्होंने शास्त्रार्थ किये। व्याख्यान दिये और आर्यसमाज स्थापित किये

सन् १८७८ में वे फिर पञ्जाब से संयुक्त प्रान्त को आगये। *बरेली आदि स्थानों में ईसाई आदि पादरियों से शास्त्रार्थ किया। १८८० में मेरठ में पंडिता रमाबाई, मेडम ब्लेवस्टकी और कर्नल आलकट स्वामीजी से मिलने आये थे। मेडम ब्लेवस्टकी और कर्नल आलकट चाहते थे कि थियोसोफिकल सोसाइटी और आर्यसमाज दोनों मिल जांय। परन्तु सिद्धांत विषयक मतभेद होने के कारण यह नहीं हो सका।

राजपूताने का दौरा

सन् १८८१ में स्वामी जी ने राजपूताने का दौरा किया। स्वर्गीय महाराणा सज्जन सिंह के बुलाने पर वे उदयपुर गये। वहां वे कुछ दिनों तक बराबर उपदेश देते रहे और उनके उपदेशों का प्रभाव भी अच्छा रहा। महाराणा सज्जन सिंह स्वामी जी से धर्म और नीति के ग्रन्थ पढ़ते भी रहे। यहीं पर स्वामी जी ने परोपकारिणी-सभा स्थापित की थी, स्वामीजी ने वस्त्र, पुस्तक, धन और यंत्रालय आदि अपनी सब सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा को बनाया था। परोपकारिणी सभा के सभापति स्वयं महाराणा सज्जन-सिंह

* बरेली के शास्त्रार्थ में पादरियों की ओर से पादरी टी० स्काट मुख्य थे। लगभग १४-१५ वर्ष हुये होंगे कि उक्त पादरी साहब मथुरा आये थे उन्होंने मथुरा के अमेरिकन मिशन-स्कूल में एक व्याख्यान दिया था। जिसमें कहा था कि "हिन्दुओं में दयानन्द सिर्फ एकही आदमी अपने ढङ्ग का हुआ है। अगर वह ज़िन्दा रहता तो वह हिन्दुओं का बहुत कुछ सुधार करता" मैं उन दिनों मिशन स्कूल में पढ़ता था व्याख्यान की समाप्ति पर मैंने उक्त पादरी साहब से दयानन्द के सम्बन्ध में बहुतसी बातें कीं, जिससे पता लगा कि वे दयानन्द को बड़ी आदर की दृष्टि से देखते थे।

जी थे सभासदों में शाहपुराधीश तथा उदयपुर के अन्य कई सरदार थे और बम्बई के स्वर्गीय न्यायमूर्ति रावबहादुर महादेव गोविन्द रानाडे आदि बाहर के भी कई सज्जन इस सभा के सभासद थे। परोपकारिणी सभा के एक अधिवेशन में रानाडे महोदय ने स्वामी जी के स्मारक में एक आश्रम खोलने का प्रस्ताव किया था जिसमें एक पुस्तकालय, एक एङ्गलोवैदिक कालेज, एक अनाथालय, अद्भुतालय एक यन्त्रालय और एक व्याख्यान गृह हो। सुनते हैं कि यह प्रस्ताव सभा में सर्व सम्मति से स्वीकृत हुआ था उस समय में आर्यसमाज के कार्य कर्त्ताओं में कितना उत्साह था कि चौवीस हजार रुपया उस स्थान पर ही एकत्रित हो गया था इस समय सभा के पास स्थावर और जङ्गम सम्पत्ति एक लाख और पच्चीस हजार के लगभग है। परन्तु शोक है कि इस सभा में जब कि बहुत सी आर्य प्रतिनिधि सभाएं यथाशक्ति कार्य कर रही हैं तब परोपकारिणी सभा का आलस्य के गढ़े में पड़े रहना अत्यन्त दुखदायी है।

रोगग्रस्त और मृत्यु

पहली मार्च सन् १८८३ ईसवी को स्वामी जी उदयपुर से रवाना होकर शाहपुरामें पहुंचे क्योंकि शाहपुराधीशका बहुत दिनों से आग्रह था। यहां पर भी अन्य स्थानों की भांति स्वामी जी के व्याख्यानों की धूम मच गई। और यह धूम यहां तक मची कि जोधपुर से भी उनको निमन्त्रण आया।

शाहपुरा से रवाना होकर स्वामी जी अजमेर होते हुये जोधपुर गये। जोधपुर जाते समय अजमेर में कई सज्जनों ने स्वामी जी से प्रार्थना की कि अब आप मारवाड़ प्रान्त में

पधारते हैं, जहां के मनुष्य प्रायः गंवार और उजड्ड हैं और उनका स्वभाव और बर्ताव भी अच्छा नहीं है, इसलिये अभी आप वहां न आइये"। इसका उत्तर स्वामी जी ने यह दिया "यदि लोग मेरी उङ्गलियों की बत्तियां बनाकर जलावें तब भी मुझे कुछ शङ्का नहीं हो सकती, मैं वहां जाऊंगा और सत्य का प्रचार करूंगा"। इसपर एक प्रतिष्ठित सज्जन ने प्रार्थना की कि आप वहां सोच समझ कर और मधुरता से काम लीजियेगा, क्योंकि वहां के लोग बड़े कठोर हृदय और कपटी होते हैं। इसका उत्तर स्वामी जी ने यह दिया "मैं पाप के बड़े वृक्षों की जड़ें काटने के लिये तीक्ष्ण कुठारों से काम लूंगा न कि उनको बढ़ाने के लिये कैंचियों से उनकी कलम करूंगा" यह उत्तर सुनकर सबने मौन साध लिया और फिर किसी को भी कुछ कहने की हिम्मत नहीं हुई।

स्वामी जी के उपदेशों की धूम जोधपुर में भी अन्यस्थानों के समान मचगई जोधपुर के तत्कालीन नरेश स्वर्गीय महाराजा यशवन्तसिंह जी स्वामीजी से मिलने आये। महाराजा साहब ने उनको सौ रुपये नक़द और पांच अशर्फियां भेंट कीं। तीन घंटे तक महाराज साहब स्वामी जी का उपदेश सुनते रहे। उसके दूसरे दिन से स्वामी जी नित्यप्रति चार बजे से छः बजे तक मैदान में व्याख्यान देते और उसके पीछे कोठी चले जाते और ८ बजे तक लोगों का शङ्का-समाधान किया करते थे। यहांपर कुछ लोग स्वामीजी के व्याख्यानोंसे नाराज़ भी हुआ करते थे। एक मुसलमान सज्जन जिनका नाम भय्या फ़ैजुल्लाखां था और जो मुसाहिब आला राज मारवाड़ के थे स्वामी जी के व्याख्यान से यहां तक नाराज़ हुये कि एक दिन कहने लगे कि "यदि मुसलमानों का राज होता तो आप ऐसे

व्याख्यान नहीं दे सकते थे और ऐसे व्याख्यान देते तो जीते नहीं रहते"। इसका स्वामी जी ने उत्तर दिया कि "यह कोई बात नहीं है मैं भी उस समय ही क्षत्रिय राजपूतों की पीठ ठोंक देता वे लोग उनको अच्छी तरह समझ लेते"।

स्वामी जी के जोधपुर जाने से पहले जोधपुर राजमें बड़ी गड़बड़ मच रही थी उनके उपदेशों से कुछ सुधार होने लगा इस बीच में स्वामीजी को खबर लगी कि महाराज साहब की एक वेश्या से जिसका नाम नन्हींजान था अनुचित सम्बन्ध है। इस वेश्या ने राज कर्मचारियों तक का नाकों दम कर रखा है। एक दिन महाराज साहब ने स्वामी जी को अपने दीवान खास में उपदेश देने के लिये बुलाया स्वामी जी ने महाराज साहब का यह निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार कर लिया। कारण यह था कि वे इस अवसर पर एक विशेष उपदेश करना चाहते थे। कमबख्ती की मार, जिस समय स्वामी जी राज महल में पहुंचे उस समय नन्हींजान की पालकी अन्दर थी और वह पालकी के भीतर से महाराज साहब से बातें कर रही थी। इतने में स्वामी जी वहां पहुंच गये, उनके आने की खबर सुनकर महाराजा साहबने कहारों से पालकी को जल्दी उठानेको कहा। कहारोंके पालकी उठाते समय पालकी कुछ ऊंची और नीची होगयी। महाराजा साहब ने पालकी में स्वयं सहारा लगाया कि इतने में स्वामी जी दीवानखास के भीतर पहुंच गये और महाराज को पालकी को सहारा लगाते हुए देख लिया। बस फिर क्या था कि उन्होंने उस दिन देशी नरेशों की वर्तमान दशा पर व्याख्यान दिया। जिसका प्रभाव महाराज साहब पर भी अच्छा पड़ा था परन्तु सच पूछिये तो यह व्याख्यान ही स्वामी जी की मृत्यु का कारण हुआ।

उक्त वेश्या के अतिरिक्त और लोग भी स्वामीजी की स्पष्ट-वादिता के कारण भड़क रहे थे, बारूद बिछी हुई थी, सिर्फ़ उसमें आग लगाने की ज़रूरत थी।

हाय! बुरी सायत में स्वामी जी दीवानख़ास में उपदेश देने पहुंचे थे। उस दिन से ही उनके ऊपर घोर सङ्कट आने लगे। अनेक प्रकार से उनके विरुद्ध षडयन्त्र रचे गये। कई एक छोटी मोटी घटनाएं स्वामी जी को कष्ट पहुंचानेवाली हुईं उनका एक नौकर कुछ माल असवाब लेकर भाग गया। षडयन्त्र कर्त्ताओं ने स्वामी जी के रसोईया को अपने में मिला लिया।

१६ वीं सितम्बर सन् १८८३ की संध्या को उन्होंने अपने रसोईये से दूध लेकर पिया। थोड़ी देर के बाद पेट में दर्द होने लगा और जी मचलाना आरम्भ हुआ। उदर में बड़ी पीड़ा होने पर भी किसी को नहीं जगवाया, वमन होने लगी कहा जाता है कि स्वामी जी के दूध में चीनी के साथ कांच बहुत महीन पीसकर मिला दिया था। एक मुसलमान डाक्टर इलाज करने लगे, उसका उलटा परिणाम हुआ। दवासे तीस चालीस दस्त नित्य होने लगे। दिन में कई बार मूर्छा आ जाती थी और प्राय: करवट लेना भी कठिन हो जाता था। मुख, तालु, जीभ और शिर पर बहुत से छाले पड़ गये थे। हिचकियों का तार बँध गया। बोलने में भी कष्ट प्रतीत होने लगा। परन्तु वे यह सब कष्ट धैर्य पूर्वक सहन करते रहे।

अकस्मात् ११ अक्टूबर सन् १८८३ के राजपूताना गज़टमें यह ख़बर अजमेर आर्य समाज के किसी सभासद ने पढ़ी। प्रथम तो लोगों को इस ख़बर पर कुछ शङ्का हुई, परन्तु फिर बहुत सोच विचारकर एक सज्जन जोधपुर भेजे गये। उन्होंने

वहां से आकर स्वामी जी की बीमारी का सारा हाल सुनाया बस चारों ओर स्वामी की बीमारी का समाचार भेज दिया गया। जोधपुर में बीमारी जाती न देखकर और कई सज्जनों के अनुरोध से १६ अक्टूबर सन् १८८३ को स्वामी जी आबू को रवाने हुए। महाराजा यशवन्त सिंह जी ने उनको मार्ग में कष्ट न होने पावै इसका बहुत कुछ प्रबन्ध कर दिया था। २५ वीं अक्टूबर को आबू में रहे, पर जिस डाक्टर का इलाज हो रहा था, उसकी आबू से अजमेर बदली हो जाने के कारण वे आबू से अजमेर चले आये। अजमेर में उनकी चिकित्सा का सुप्रबन्ध किया गया, पर होनी प्रबल होती है, चिकित्सा आदि से कुछ न हुआ भारत माता का सच्चा सपूत, सच्चा सुधारक नव्य भारत को मानसिक दासत्व से मुक्ति प्रदान करनेवाला हिन्दू-समाज का संरक्षक धर्मवीर ऋषिदयानन्द सरस्वती सन् १८८३ की ३० वीं अक्टूबर तदनुसार कार्तिक कृष्ण अमावास्या संवत् १९४० अर्थात् *दीपमालिका के दिन भारत माता को अनाथ करके चलबसे। जिस दिवाली के दिन भगवान् रामचन्द्र जी के लङ्काविजय करने का उत्सव मनाया जाता है, इस उत्सव के उपलक्ष्य में जब चारों ओर रोशनी की जगमगाहट से आंखें चकाचौंध हो रही थीं, हाय! उस दिवाली के दिनही ऋषिदयानन्द की मृत्यु ने चारों ओर भारतवर्ष में

---

*स्वामी जी की मृत्यु का दृश्य बड़ा विचित्र सुना जाता है। उन्होंने मृत्यु से पहले जो लोग वहां उपस्थित थे उनसे पूछा कि कौन सा महीना है और क्या तिथि है। फिर ईश्वर से प्रार्थना की और अन्त में यह कहते हुये कि हे परमात्मा! तेरी इच्छा पूर्ण हो, शरीर त्याग दिया। कहते हैं कि इसमृत्यु का पं० गुरुदत्त विद्यार्थी पर इतना प्रभाव पड़ा कि वे नास्तिक से आस्तिक हो गये।

अन्धकार उपस्थित कर दिया। अरी दिवाली! सचमुच तू दिवाली नहीं अन्धियाली है क्योंकि आज के दिनही भारत माता के दूसरे सपूत स्वामी रामतीर्थ का देहान्त हुआ था। इसमें सन्देह नहीं है कि स्वामी दयानन्द की मृत्यु से हमारे देश को बड़ा धक्का पहुंचा। जिस कार्य को दयानन्द ने करने का बीड़ा उठाया था वह अधूराही रह गया। इस देश से स्वामी दयानन्द ने जिस मानसिक दासता को दूर करना चाहा था उनकी मृत्यु हो जाने के कारण वह आज तक दूर न हो सकी! शोक! महाशोक!!! दुष्टा मृत्यु ने वृद्धा भारत माता की गोद में से एक ऐसे लाल को झपट लिया जिसका स्थान इतने दिनों से खाली हो जाने पर भी आज तक नहीं भरा है।

जीवनी पर एक दृष्टि।

संसार में तीन बल कहे गये हैं धन बल बाहुबल और विद्या बल। पाठकों ने स्वामी दयानन्द की जीवनी की मुख्य मुख्य घटनाओं को पढ़ कर यह बात अवश्य जानली होगीकि दयानन्द के पास धनबल और बाहुबल बिलकुल नहीं था, उन के पास विद्याबल अवश्य था परन्तु विद्याबल होने पर भी उनका कार्य्यक्षेत्र कण्टक रहित नहीं था। उनके मार्ग में बहुत सी विरोधिनी शक्तियां काम कर रही थीं, उनके सङ्कल्पों की सफलता में बड़ी बड़ी बाधाएं उपस्थित हुईं। पग पग पर निराशाओं का सामना करना पड़ा। बड़ी बड़ी कठिनाइयां आईं पर वह रुकावटों की परवाह न करते हुये, आगे बढ़ते ही चले गये। अतएव विचारना चाहिये कि दयानन्द के पास ऐसी क्या शक्ति थी जिससे वह किसी विघ्न बाधा की परवाह

न करते हुए अपने विश्वास पर अटल पर्वत के समान डटे रहे।

मुझे मेरे प्रेमी पाठक यहां पर सच्ची और सही बात के कहने के लिये क्षमा करें कि दयानन्द की जीवनी आदि से अन्त तक पढ़ने पर विलायत के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् जान स्टुअर्ट मिलने अपनी "Representative Government" नामक पुस्तक में जो यह वाक्य लिखे हैं—"A man with a conviction is a social power equal to ninety-nine without one" स्मरण आये विना नहीं रहते हैं। वास्तव में दयानन्द के पास केवल दृढ़ विश्वास, दृढ़ संकल्प और आत्मिक बल ही था। उनकी जीवनी आदि से अन्त तक पढ़ जाइयेगा, स्टुअर्ट मिल के उपर्युक्त कथन के अक्षर अक्षर उनकी जीवनी के सम्बन्ध में चरितार्थ होते हैं। दयानन्द के दृढ़ संकल्प और आत्मिक बल का पता बालकपन से ही लगता है। क्या यह दृढ़ संकल्प और आत्मिक बल नहीं है कि चौदह वर्ष का बालक शिवरात्रि के व्रत के दिन रात्रिभर जागता रहे और जिस पिता ने शिवरात्रि के दिन रात्रिभर जागने का उपदेश दिया था, वह पिता ही सब से पहिले सोजाय। इस साधारण घटना से ही उसकी जीवनी का कार्य कुल बदल जाय। केवल चचा और बहिन की मृत्यु उसे संसार से विरक्त कर दे। जिस तरह गर्मी के दिनों में प्यासा हरिण पानी के लिये दौड़ता रहता है, वैसे ही सच्चाई की खोज के लिये उस अवस्था में जो सुख और चैन में बीतती है एक नवयुवक भयानक जङ्गल पहाड़ों और विचित्र नदियों के किनारे पर भटकता फिरे। इससे बढ़ कर दयानन्द के दृढ़ संकल्प का और क्या उदाहरण हो सकता है? पर नहीं हम इससे बढ़-

कर भी उस समय दयानन्द के चरित्र में एक खूबी देखते हैं जब यह अपने विश्वासों के प्रचार करने के लिये मैदान में आते हैं, कौन नहीं जानता कि ऐसे अवसरों पर जो व्यक्ति जनसमाज की रुचि के विरुद्ध चलता है उसको कैसी कैसी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है, जोजन समाज के विरुद्ध चलना ही नहीं चाहता किन्तु जनसमाज को अपनी रुचि के अनुकूल चलाना चाहता है, उसको और भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। चाहे जिस देश के आधुनिक और प्राचीन इतिहास को उठाकर देख लीजिये कि जिस किसी व्यक्ति ने अपने समाज और देश में प्रचलित कुरीति के दूर करने के लिये आवाज़ उठाई है, उसे बड़ी यन्त्रणायें मिली हैं। फिर भला भारतवर्ष के सम्बन्ध में तो पूछना ही क्या है? स्वामी दयानन्द को भी अपने समाज में से कुरीतियों के दूर करने में बड़े बड़े सङ्कटों का सामना करना पड़ा था। पर वे अपने दृढ़ विश्वास से तनिक भी विचलित नहीं हुए।

पुराने समय के लोग कहते आये हैं कि इस संसार में तीन ऐषणाएं बड़ी ज़बरदस्त हैं, पुत्रैषणा; वित्तैषणा और लोकैषणा, इन तीनों ऐषणाओं पर विजय प्राप्त करना कठिन है, सच पूछिये तो दयानन्द ने इन तीनों ऐषणाओं पर विजय प्राप्त करली थी। पुत्रैषणा और वित्तैषणा के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। जिस दिन उन्होंने अपना घर परित्याग कर दिया था, जिस दिन उन्होंने अपने विवाह न करने की भीष्म प्रतिज्ञा धारण की थी उसी दिन उन्होंने इन दोनों ऐषणाओं पर विजय प्राप्त करली थी, परन्तु लोकैषणा पर उन्होंने कम विजय प्राप्त नहीं की। दयानन्द स्पष्टवादी थे वे जो कुछ उचित समझते थे, उसको बिना किसी अलङ्कार

और विशेषण के सीधी सच्ची कह देते थे। इस गुण अथवा दोष के कारण उनके प्राण तक लेने को कई वार कितने ही स्थानों में लोग उतारू होगये थे।

एक वार कर्णवास में स्वामी दयानन्द ने एक रईस के सामने निडर होकर रामानुज सम्प्रदाय के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये, वस फिर क्या था? वह रईस तलवार लेकर स्वामी दयानन्द पर दौड़ा, स्वामी दयानन्द के अनुयायियों के सामने उक्त रईस की दाल नहीं गल सकी कि वह स्वामी दयानन्द पर तलवार चलाता, वस शान्त होकर उस समय बैठ गया, परन्तु स्वामी दयानन्द के भक्तगण उक्त रईस के इस कुत्सित व्यवहार से अत्यन्त दुःखित हुए। उन्होंने स्वामी दयानन्द से उस रईस को मार डालने की आज्ञा मांगी स्वामी दयानन्द ने कहा कि वह क्षत्रियत्व को पूरा न कर सका तो हम क्यों सन्यास धर्म से पतित होवें. सन्तोष करना ही परम धर्म है। अनूपशहर में स्वामी दयानन्द को एक व्यक्ति ने ज़हर देना चाहा, वहां एक मुसलमान तहसीलदार स्वामी दयानन्द का परम भक्त था, उसने उस ज़हर देनेवाले को हवालात में पहुंचा दिया और स्वामी दयानन्द से आकर यह समाचार कहा। तहसीलदार साहव समझे हुए थे कि स्वामी जी इस समाचार से वड़े प्रसन्न होंगे, परन्तु उन्होंने ने कहा:—"मैं संसार को क़ैद कराने नहीं, वरन छुड़ाने आया हूं"। अन्त में उनके अनुरोध से वह ज़हर देने वाला व्यक्ति छोड़ दिया गया।

जिनके हृदय में किसी कार्य के करने की लौ लगी हुई होती है वे मान अपमान की कभी चिन्ता नहीं करते हैं। स्वामी दयानन्द के हृदय में भी अपने देशकी दुर्दशा दूर करने

की लौ लगी हुई थी। उनको भी मान अपमान का कुछ विचार नहीं था। उनका लक्ष्य अपने उद्देश्य की पूर्ति पर था। पूना में स्वामी दयानन्द के पहुंचने पर जिस भांति गर्दभानन्द की सवारी निकाली गई थी उसका वृत्तान्त पहले लिखा जा चुका है। काशी में भी स्वामी दयानन्द को अपमानित करने में कुछ कसर बाकी नहीं रखी गई। कहते हैं कि स्वामी दयानन्द अपनी वाणी के बल से भगवान् विश्वनाथ के त्रिशूल से रक्षित काशी को हिला रहे थे, तब कुछ लोगों ने स्वामी दयानन्द की बातों का उत्तर न देकर इस जघन्य उपाय का अवलम्बन किया कि एक गदहे पर एक मोटे ताज़े आदमी को सवार कराया और उसके पीछे हो, हल्ला करते हुए चले कि यह स्वामी दयानन्द जाता है। यह ख़बर स्वामी दयानन्द के कान तक पहुंची स्वामी दयानन्द लोगों की इस मूर्खता पर हंसे! जिन लोगों ने यह जघन्य व्यापार रचा था, उनमें से एक व्यक्ति स्वामी दयानन्द के पास यह देखने गया कि इसका स्वामी दयानन्द के ऊपर क्या असर हुआ है? पर जब उसने स्वामी दयानन्द को किसी प्रकार से खिन्न चित्त न पाया तो लौट आया, उसके हृदय में स्वामी दयानन्द के प्रति श्रद्धा और भक्ति हो गई।

बरेली में स्वामी दयानन्द के एक व्याख्यान में एक बार वहां के तत्कालीन कलेक्टर आये थे। अपने विश्वास विपरीत कुछ कहना अथवा करना स्वामी दयानन्द ने सीखा ही नहीं था, उन्होंने सदैव की भांति सच्ची और खरी बातें कहीं। कलेक्टर के चले जाने पर लोगों ने स्वामी दयानन्द से कहा कि आज कलेक्टर साहब आये थे, आप इस भांति व्याख्यान न दिया करें। उस समय स्वामी दयानन्द चुप हो रहे, दूसरे दिन फिर कलेक्टर साहब आये, स्वामी दयानन्द ने अपने व्याख्यान

के आरम्भ में ही कहा "लोग कहते हैं कि कलेक्टर साहब व्याख्यान में आते हैं सच्ची बातें मत कहा कीजियेगा। अब मैं स्पष्ट कहता हूं कि मुझे सत्य के कहने के लिये कमिश्नर कलेक्टर तो क्या राजा, महाराजा तक के सामने भय नहीं है। सत्य के कहने के लिये मुझे मृत्यु का दण्ड मिले तो भी मैं नहीं रुक सकता। आत्मा अजर अमर है, कौन सा कलेक्टर और कौन सा कमिश्नर है जो मेरे आत्मा को मार सकता है, अथवा तलवार से काट सकता है"। कहते हैं कि स्वामीजी के इस व्याख्यान से कलेक्टर और कमिश्नर नाराज़ नहीं हुए, बल्कि प्रसन्न हुए थे।

स्वामी दयानन्द की जीवनी में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते, हैं जिनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने मान अपमान अथवा धनादि की कभी परवाह नहीं की। आर्य्य-समाज का बच्चा बच्चा यह बात जानता है कि लाहौर आर्य समाज की अन्तरङ्ग सभा में स्वामी दयानन्द से जब एक विषय पर सम्मति पूछी गई तो उन्होंने यह उत्तर दिया था कि 'मैं आप लोगों की सभा का सभासद नहीं हूं। इसलिये इस विषय पर अपनी कुछ सम्मति नहीं दे सकता" लाहौर आर्यसमाजने जब उनको गुरुकी पदवी देनी चाही, तब उन्होंने योगदर्शन के एक सूत्र का उच्चारण करते हुये कहा कि सबका गुरु परम पिता परमेश्वर है। मेरा उद्देश्य गुरुडम आदि तोड़ने का है न कि प्रचार करने का इस पर लाहौर आर्यसमाज के सभासदों ने कहा कि यदि आप गुरु की पदवी स्वीकार नहीं करते हैं तो कम से कम परम सहायक की पदवी स्वीकार कर लीजिये। इस पर स्वामीजी ने यह उत्तर दियाः—"यदि तुम लोग मुझे परम सहायक कहोगे तो उस परम पिता परमेश्वर

को क्या कहोगे ? मुझे सिर्फ़ अपना सहायक ही समझो" । ये वाक्य स्वामी दयानन्द के थे, स्वामी दयानन्द के समय में भी ऐसे प्रचारकों की कमी नहीं थी, जो गुरुडम फैला रहे थे । * ब्रह्म समाज के प्रसिद्ध नेता, वाग्मीवर बाबू केशवचन्द्र सेन तक इस गुरुडम से बचे नहीं थे । यदि उस समय स्वर्गीय बाबू राजनारायण वसु ने बाबू केशव चन्द्र सेन के इस आचरण पर आन्दोलन न किया होता तो ब्रह्म समाज से गुरुडम की लहर कम न पड़ती । इस घटना के उल्लेख करने का केवल तात्पर्य यही है कि स्वामी दयानन्द ऐसे समय में हुए थे कि यदि वे चाहते तो गुरुडम की गद्दी क़ायम कर जाते । परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया । पर अफ़सोस ! आज आर्य समाज में कितने ही व्यक्ति हैं, जो अपना गुरुडम वंश परम्परा के लिये क़ायम करना चाहते हैं भीतर ही भीतर आर्यसमाज में गुरुडम की लहरें उठ रही हैं जिसकी पहिली सीढ़ी "पैरपूजा" प्रचलित हो गई है उसको दूर करना चाहिये । आर्यसमाज में जो लोग गुप्त रूप से गुरुडम फैलाना चाहते हैं उन्हें सोच

*बाबू केशवचन्द्रसेनकी वक्तृताओंका लोगों पर इतना प्रभाव हुआ कि वे गुरुडम फैलाने लगे, मुझे इस समय ठीक नहीं याद आता है परन्तु मैं भूलता नहीं तो कह सकता हूं कि प्रसिद्ध ब्रह्मसमाजी, पं० शिवनाथ शास्त्री एम०ए० का लिखा हुई पुस्तक "हिस्ट्री आफ़ दी ब्रह्मसमाज" में लिखा है कि जब केशव बाबू उपदेश करते मुंगेर पहुंचे तब वहां पर उनको गुरुडमपने की बहुत सी बातें हुईं इस पर स्वर्गीय बाबू राजनारायण वसु ने "गुरुडम" के विरुद्ध बड़ा विकट आन्दोलन मचाया । अन्त में बाबू केशवचन्द्र सेन ने यह उत्तर दिया कि मैं इस गुरुडम के पक्ष में बिलकुल नहीं हूं पर लोगों के विशेष आग्रह से यह सोचकर कि उनका जी न दुखे, ऐसा किया था" । शोक है कि इस लेख के लिखते समय पं० शिवनाथ शास्त्री की पुस्तक मेरे पास नहीं है, नहीं तो मैं पूरी पूरी सब घटनाएं लिख देता ।

लेना चाहिये कि इसका बड़ा भयङ्कर परिणाम होगा। क्या ब्रह्मसमाज के बाबू राजनारायण वसु के समान, आर्यसमाज में ऐसा कोई आत्मिक-बल वाला सज्जन नहीं है, जो इस गुरुडम के विरुद्ध आवाज़ उठावे। आर्य समाज के "गुरुडम" के अतिरिक्त जो लोग स्वराज्य स्वराज्य की चिल्लाहट मचारहे हैं, मनुष्यों के समान अधिकारों का उपदेश देते हैं वे भी "गुरुडम" फैला रहे हैं। कहने का सारांश यह है कि जब गुरुडम की अभी तक बू हमारे यहां से दूर नहीं हुई है तब स्वामी दयानन्द चाहते तो बहुत सा गुरुडम फैला जाते।

स्वामी दयानन्द अपने सिद्धान्तों के सामने बड़ी से बड़ी सम्पत्ति तक को तुच्छ समझते थे, उदयपुर के स्वर्गीय महाराणा सज्जन सिंह जी ने उनसे कहा था कि आप मूर्त्ति पूजा का खण्डन छोड़दें और उदयपुर के एक लिङ्ग महादेव की गद्दी के महन्त बनजांय, इसपर स्वामीजी ने यही उत्तर दिया कि मेरे जीवन का उद्देश्य महन्तों की गद्दी को हटाना है न कि महन्त बनना है।

इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी जी की जीवनी नस नस में उत्साह भरनेवाली है सब से पहिली शिक्षा ऋषिदयानन्द की जीवनी से यह मिलती है जिस सर्व साधारण के हित के काम करने के लिये Toleration (धैर्य्यता) और Struggle (द्वन्द) की बड़ी ज़रूरत हुआ करती है वह स्वामी जी में मौजूद था। स्वामी दयानन्द ने जिस व्रत को उठाया था, उसमें जो विघ्न बाधायें आती थीं, उसको दूर करने के लिये वे सदैव द्वन्द करते रहे निराश नहीं हुये। उन्होंने राजा राममोहन राय, पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और बाबू केशवचन्द्र सेन की भांति समाज सुधार के कार्य्यों में गवर्नमेण्ट

से सहायता नहीं ली थी। सर सय्यद अहमदखां की भांति उन्होंने एक जाति का स्वार्थ नष्ट करके किसी ख़ास जाति को लाभ पहुंचाने की चेष्टा नहीं की थी। कर्नल आलकट, मिसेज़ एनी बिसेण्ट और मिस्टर लेडबीटर की भांति उन्हों ने न तो हिमालय के महात्माओं से तार मगवाये न अपने पुनर्जन्म की कथा लिखी थी। स्वामी दयानन्द हृदय से और वचन से निष्कपट थे। ईसाइयों के गिरजे और मुसलमानों की मसजिद में जब उनसे व्याख्यान देने के लिये कहा गया, तो उन्होंने वहां पहुंच कर भी ईसाई मुसलमानों के धर्म के सम्बन्ध में उनके जो विचार थे, वही प्रगट किये यही कारण है कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके विचारों का आदर हो रहा है। स्वामी दयानन्द ने हिन्दू समाज में जो विचार क्रान्ति करनी चाही थी वह आज शनैः शनैः होरही है। विलायत जाना, स्त्री-शिक्षा, अक्षतयोनि विधवा विवाह आदि के पक्ष में बहुत से हिन्दू हो रहे हैं। बाल विवाह के विरोध में भी जहां तहां से आवाज़ आ रही है। संयुक्तप्रान्त और पंजाब के समाज-सुधार और शिक्षा सम्बन्धी अनेक कार्योंमें स्वामी दयानन्द के उन कष्ट और यन्त्रणाओं का भी फल है जो उन्होंने इस देश की सेवा करने में उठाये थे।

स्वामी दयानन्द हिन्दू समाज को कष्ट नहीं देना चाहते थे। वे हिन्दू समाज का सुधार करना चाहते थे। यद्यपि उनके उपदेशों से यह पता लगता है कि उनके उपदेश किसी व्यक्ति विशेष तथा समाज विशेष की सम्पत्ति नहीं हैं। मनुष्य मात्र की सम्पत्ति है। तथापि मेरी सम्मति में स्वामी दयानन्द पर हिन्दू जाति का जितना अधिकार है उतना किसी जाति का नहीं है। वे हिन्दू समाज की दूषित प्रथाओं को दूर करना

चाहते थे। बहुत से लोग यह मखौल उड़ाया करते हैं कि स्वामी दयानन्द को वेदों का ख़ब्त था वे सोचते हैं कि यदि दयानन्द अंग्रेज़ी पढ़े हुये होते तो शायद वेदों का भूत उनके सिरपर सवार न होता। लेकिन यहां ऐसा कहनेवाले भूलते हैं, मैं यहां पर कलकत्ता यूनिवर्सिटी के ग्रेज्यूएट और अमेरिका आदि देशों में भ्रमण करनेवाले एक साधुकी साक्षी दिये बिना नहीं रह सकता हूं कि उनको भी दयानन्द के समानही वेदों का ख़ब्त था कौन भारतवासी है जो स्वामी विवेकानन्द के नाम से परिचित न हो, उन्हीं स्वामी विवेकानन्द जी ने एक स्थान पर लिखा है "All the other religions of the world are included in the nameless limitless eternal Vedic Religion" अर्थात् संसार के सभी धर्म नाम रहित, असीम, अनादि वैदिक धर्म में सम्मिलित हैं। यद्यपि मेरा यह विश्वास नहीं है कि जो कुछ है, वह सब वेदों में ही है तथापि यहां पर स्वामी जी के अतिरिक्त एक और विद्वान् की साक्षी लिखना आवश्यक था। स्वामी जी के हृदय में वेदों का बहुत आदर था।

स्वामी दयानन्द के चरित्र में एक विशेष महत्व की बात यह है उनके हृदय में देश प्रेम मेज़िनी, गेरीवाल्डी की जीवनी पढ़ने से उत्पन्न नहीं हुआ था, अंग्रेज़ी का काला अक्षर भैंस बराबर होने पर भी उनके हृदय में किसी अंग्रेज़ी पढ़े हुये व्यक्ति से देश प्रेम कम नहीं था बल्कि यों कहना चाहिये कि उनके हृदय में बहुत ज़्यादा देश प्रेम था। अपने देश के लिये सब कुछ त्याग कर दिया। उनके हृदय में कपिल कणाद प्रभृति के उपदेशों से ही देशभक्ति उत्पन्न हुई थी। उन्होंने अपने पुराने संस्कृत साहित्य के बल से ही हिन्दूसमाजमें

विचार क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी जो विचार उन्नति से हिन्दू जाति में सुधार हो रहा है।

स्वामी दयानन्दके चरित्र की पर्यालोचना करनेका स्थान नहीं है परन्तु यह विना किसी संकोचके कहा जासकता है कि स्वामी दयानन्द का चरित्र अत्युच्च और अनुकरणीय था आर्यसमाज की वर्त्तमान उन्नति के अनेक कारणों में से एक कारण स्वामी दयानन्द का अत्युच्च चरित्र और आत्मिक बल भी है।

मानसिक मुक्तिकी आवश्यकता

वास्तव में देखाजाय तो हिन्दू जाति के गिरनेका कारण केवल अन्ध विश्वास और धर्म सम्बन्धी बातोंमें तर्क को स्थान न देना भी है। हम पहिले प्रस्तावनामें कह आये हैं कि स्वामी दयानन्द के पूर्व उत्तर भारत में शिक्षित हिन्दुओं की मानसिक मुक्ति नहीं थी। उन्हें अपने विश्वासों के विपरीत चलना पड़ता था। स्वामी दयानन्द ने इस मानसिक गुलामीको दूर करने लिये जिन कठोर उपायोंका अवलम्बन किया था उसके विषय में पाठकोंने उनकी जीवनी पढ़कर परिणाम निकाल लिया होगा। इस विषयमें विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। वास्तवमें स्वामी दयानन्द मानसिक मुक्तिके बड़े पक्षपाती थे। बङ्गला दयानन्द चरित्रके रचयिता श्रीयुत देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय लिखते हैं:—देवेन्द्रनाथ (ठाकुर) के अन्यतम और स्वर्गारूढ़ पुत्र हेमेन्द्रनाथ के साथ आत्मा की स्वाधीन इच्छा के विषयमें स्वामीजी का विचार हुआ। दयानन्द स्वाधीन इच्छा के पक्षपाती थे। यहां तक कि उन्होंने स्वाधीन इच्छा के पक्ष में वैदिक प्रमाणों का प्रदर्शन करके हेमेन्द्रनाथ को विस्मित कर दिया था"। इतनी ही उन्होंने मानसिक

स्वतन्त्रता के पक्षपाती होने के कारणही, आर्यसमाज के दस नियमों में से एक नियम यह भी रखा है कि 'सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़नेमें सर्वदा उद्यत रहना चाहिये'। क्या यह मानसिक मुक्ति का प्रमाण यथेष्ठ नहीं है। उन्होंने आगे और भी कहा है कि "सब मनुष्योंको सामाजिक सर्वहितकारी नियम के पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें"। स्वामी दयानन्द और भी कहते हैं कि 'सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये'। नहीं मालूम इन नियमों का लोगों ने क्या अर्थ निकाल रखा है. परन्तु देखा जाय तो इन नियमों का तात्पर्य स्पष्ट है कि बिना अपनी बुद्धि लड़ाये बिना तर्क का अवलम्बन किये कभी किसी बात को स्वीकार नहीं करना चाहिये। परन्तु शोक है कि आज हम लोगों में सिद्धान्त विरोध का रोग इतना प्रबल होगया है कि यदि कोई व्यक्ति सच्चे दिल से किसी विषय पर शंका करै अथवा जब किसी की आत्मा किसी के विषयको मानने के लिये तैयार नहीं होती है तो हम लोग ऐसे व्यक्तियों को बहिष्कृत करने को तैयार होजाते हैं। इस स्थल पर मुझे लार्ड मेकाले के वे शब्द याद आते हैं, जो इन्होंने ईसाइयों के प्रोटेस्टेण्ट दल के सम्बन्ध में कहे थे। प्रोस्टेस्टेण्ट चर्च रोमन कैथालिकों से केवल इसलिये घृणा करता है कि वे अन्धी लकीर के फ़कीर बने हुए हैं, स्वतन्त्र विचारों को स्थान नहीं देता है। परन्तु जब कोई प्रोटेस्टेण्ट रहता हुआ अपने मत के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में आपत्ति उठाता है। अथवा अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करता है तो झट प्रोटेस्टेन्ट मतवाले सिद्धान्त विरोध की दुहाई मचा देते हैं"। मेरे प्रेमी पाठक! मुझे क्षमा करें

कि यदि लार्ड मेकाले से उपर्युक्त शब्दों का कुछ उलट पुलट कर आर्यसमाज के सम्बन्ध में लिख दिया जाय तो अनुचित न होगा कि ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज को हिन्दुओं में विचार स्वातन्त्र्य न होने के कारणही स्थापित किया था परन्तु आज यदि कोई आर्यसमाज में अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करे तो लोग झट उसको नास्तिक कह देते हैं। यदि कोई व्यक्ति स्वामी दयानन्द पर पूर्ण श्रद्धा और भक्ति रखता हुआ, आर्यसमाज के नियमों को दृढ़ता से पालन करता हुआ यह कहे कि अमैथुनी सृष्टि नहीं हो सकती है तो फ़ौरन लोग उसको नास्तिक कहने लग जाते हैं। उसके बहिष्कार करने की तैयारी होजाती है। हाय! निर्बलता को ऋषी दयानन्द हिन्दू समाज में से हटाना चाहते थे, वही निर्बलता आर्यसमाज में घुसना चाहती है। भाई! इस निर्बलता को अपने समाज में मत घुसने दो।

स्मरण रहे कि वही समाज जीवित जागृत रह सकता है जिसने विचार स्वातन्त्र्य पर रोक और छाप न लगाई हो। ऋषि दयानन्द ने हमको सब से बढ़कर यदि कोई सम्पत्ति प्रदान की है तो वह अमूल्य सम्पत्ति विचार स्वातन्त्र्य और मानसिक मुक्ति है। यदि आज हमको ऋषि दयानन्द से विचार स्वातन्त्र्य और मानसिक मुक्ति न मिली होती तो उत्तर भारत की हिन्दू जाति बहुत ही क्षीण होगई होती। अन्य मतावलम्बियों के मुकाबिले में हिन्दू जाति की रक्षा हुई है तो केवल एक मानसिक मुक्ति और विचार स्वातन्त्र्य से ही। अतएव उस मानसिक मुक्ति की बड़ी आवश्यकता है।

रक्षा के उपाय

कर्मयोग का उपदेश

वर्षों से हिन्दुओं की मानसिक शक्तियों पर ताला ठुकजाने से लोगों ने वैराग्य का यही अर्थ समझ रखा है कि दुनियां के सब कामों से विरक्त होकर आंखे मूंद कर बैठे रहा करें। भारतीय दर्शनशास्त्र के ज्ञाताओं से यह छुपा हुआ नहीं है कि मध्यम कालीन तत्ववेत्ताओं ने वैराग्य अर्थात् संसार से उपेक्षा की शिक्षा दी थी। उन्होंने इस संसार को दुःख का सागर समझा था और उन्हें इस दुःख से बचाने के लिये उन्होंने केवल एक यही उपाय सोचा था कि दुनिया के झगड़ों से किनारा करलें। सच पूछिये तो इस भाव ने हिन्दुओं की विशेष अधोगति की, इस भाव से हिन्दू जाति आलस्य में जकड़ गई। 'संतोषं परमं सुखम्' यहां उसका मूल सिद्धान्त होगया था। बहुत से कवियों ने वैराग्य की ऐसी बढ़िया कविताएं रच डालीं कि जनसाधारण तक इस प्रवाह में बहने लगे। सीधे सादे भोले भाले लोगों ने समझा कि वास्तव में इस संसार के दुःख से पार जाने का उपाय केवल एक वैराग्य ही है। वस्तुतः वैराग्य कोई बुरी वस्तु नहीं है। पर असली वैराग्य और बनावटी वैराग्य में बहुत भेद है, हिन्दुओं के गिरने का कारण यह बनावटी वैराग्य है।

स्वामी दयानन्द भी संसार को दुःख का सागर मानते थे परन्तु वे साथ ही, दुःख के सागर इस संसार को सदाचार से, अविद्या और अज्ञानता को दूर करके सुख का सागर बनाया चाहते थे। इसलिये उन्होंने आर्य्यसमाज के नियमों में

शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक उन्नति के लिये विशेष वल दिया है। वे जानते थे कि शारीरिक उन्नति के विना सामाजिक उन्नति नहीं हो सकती है। शारीरिक और सामाजिक उन्नति का सम्बंध धुआं और अग्नि का सा है। निर्बलता कैसी ही क्यों न हो वह पाप है फिर शारीरिक निर्बलता तो महापाप है। जब शारीरिक निर्बलता बनी रही तब सामाजिक और आत्मिक उन्नति कैसे हो सकती है। इसलिये उन्होंने आर्य्यसमाज के नियमों में शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक उन्नति पर विशेष बल दिया है। उन्होंने एकान्त में जाकर बैठे रहना ही मोक्ष का साधन नहीं समझा था। उन्होंने संसार के सुख, और ऐश्वर्य्य को तुच्छ नहीं समझा था ऋषि दयानन्द का मोक्ष परोपकार और सामाजिक सेवा से ही मिल सकता है। वे अपनी पुस्तक आर्य्याभिविनय में एक स्थान पर लिखते हैं:—"जो स्त्री-पुरुष अहिंसक धर्मात्मा हुये आपही धनों, विद्या राज्य और प्रजा को धारण करें, वे अन्न, बल, विद्या और राज्य को पा के भूमि और सूर्य के तुल्य प्रत्यक्ष सुखवाले हों" इस भाँति उनके ग्रन्थों में एक स्थान पर नहीं, अनेक स्थानों में ऐसे वाक्य मिलते हैं। आर्य्याभिविनय में ही उन्होंने दूसरे स्थान पर लिखा है:—"गृहस्थ को योग्य है कि ईश्वर की उपासना वा उसकी आज्ञा पालने से गौ, हाथी, घोड़े आदि तथा भोजन, पीने, स्वादु योग्य पदार्थों को संग्रह कर अपनी वा औरों की रक्षा करके ज्ञान, धर्म, विद्या और पुरुषार्थ से इसलोक वा परलोक के सुखों को सिद्ध करना चाहिये, किसी पुरुष को आलस्य में नहीं रहना चाहिये" इत्यादि। एक और स्थान पर स्वामी दयानन्द ने लिखा है:—"हे परमेश्वर! हमारी शम दमादियुक्त इन्द्रियां, गौ आदि, वीरपुत्र

और शूरवीर भृत्य को सुख हो तथा हमारे रक्षा करने योग्य पदार्थों की रक्षा कीजिये"। इस प्रकार के वाक्य स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों से बीसों उद्धृत किये जा सकते हैं, परन्तु इतने ही पर्याप्त हैं। इन वाक्यों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द कर्मयोग के पक्षपाती थे। उन्होंने क्रिया-शीलता को उच्च स्थान दिया है। जिस समाज अथवा देशमें क्रिया-शीलता का अभाव हो जाता है, वह देश और वह समाज कभी उठ नहीं सकता है। इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है कि * बौद्ध और हिन्दुओं के गिरने का कारण बनावटी वैराग्य है।

स्वामी दयानन्द ने उस बनावटी वैराग्य को दूर करके हिन्दुओं की रक्षा का पहला उपाय उनमें क्रिया-शीलता का भाव पैदा करना उचित समझा।

ईसाइयों की निराशा

स्वामी दयानन्द से पूर्व हिन्दुओं में एक बड़ी भारी दिक्कत यह आगई थी कि शिक्षित हिन्दू और सर्वसाधारण हिन्दुओं (masse) के बीच में बड़ा भेद भाव उपस्थित होगया था। दोनों विचारों के लोग भिन्नपथों का अवलम्बन कर रहे थे। स्वामी दयानन्द ने पुराने और नये विचारवालों के बीचमें जो भेद भाव पड़े हुए थे, उनके दूर करने की पूरी चेष्टा की और उनको उस चेष्टा में सफलता भी प्राप्त हुई। बहुत शिक्षित हिन्दुओं को अपनी प्राचीन सभ्यता पर विश्वास नहीं रहा था,

* सुनते हैं कि तिब्बत में बहुत से बौद्ध लामा क्या किया करते हैं कि वे वर्षों से कोठरियों में बन्द रहे आते हैं। अपना मुंह किसी को नहीं दिखलाते हैं। खिड़की में उनके लिये भोजन रख दिया जाता है जब कई बार भोजन रखने पर खिड़की में से नहीं उठाया जाता, तब कहीं बाहर के लोग समझते हैं कि लामा मर गये। और किवाड़े खोलकर लामा की लाश निकालते हैं।

स्वामी दयानन्द ने उस सभ्यता पर नये विचार के हिन्दुओं का विश्वास ला दिया। यही कारण है कि तीस चालीस वर्ष पहिले ईसाई पादरियों को हिन्दुओं को ईसाई बनाने में जो सफलता प्राप्त हो रही थी, वह इस समय नहीं होती है। स्वामी दयानन्द से पूर्व हिन्दुओं में से चाहे जो कोई ईसाई हो जाता था पर ईसाई अथवा मुसलमानों में से कोई हिन्दू नहीं हो सकता था। स्वामी दयानन्द ने यह बात दूर करदी, आज से ६२ वर्ष पहले जिस प्रोफ़ेसर रामचन्द्र ने यह प्रश्न किया कि क्या कारण है। हिन्दू ईसाई हो जांय पर ईसाई हिन्दू न हो सके, उस प्रश्न का हल स्वामी दयानन्द ने कर दिया। अब ईसाइयों को पहली की भांति कृतकार्यता इस कार्य में प्राप्त नहीं होती है। देखिये "The Church Missionary Society" (दी चर्च मिशनरी सोसाइटी) की रिपोर्ट सन् १८९९ से १९०० तक में लिखा हुआ है ? रिपोर्ट के लेखक लिखते हैं कि भारत वर्ष में सन् १८९९ से सन् १९०० तक ३४५४ मनुष्य प्रचार का काम करते हैं। १६८५००० रुपये उनकी सहायता के लिये व्यय किये गये हैं। पर इतना अगणित धन व्यय करने पर भी ईसाई पादरियों को जो सफलता प्राप्त हुई है, उसे पढ़ कर हँसी आती है कि केवल १८३६ समझदार मनुष्यों ने ईसाई धर्मग्रहण किया है। उस रिपोर्ट के लेखक आगे कहते हैं:—

यदि हम भारतवर्ष का मानचित्र सामने रखकर देखें तो हमें प्रतीत होता है कि जहां २ ईसाई बनाये गये हैं, वहां जङ्गली जातियों का निवास है, उच्च जातियों तथा शिक्षित लोगों के अन्दर क्रिश्चियन मिशन का कभी भी प्रवेश नहीं हुआ है। ईसाई पादरी इस समय कैसे निराश हो रहे हैं इस विषय में मिस्टर सिडनी स्मिथ के निम्न वाक्य पढ़ने योग्य हैं:—"That

the native who bore the name Christian was nothing more than drunken reprobate who conceives himself at liberty to eat and drink anything he pleases and annezes hardly any meaning to Christianity इसका भावार्थ यह है वे देशी लोग जो ईसाई नाम को धारण करते हैं। प्रायः शराबी होते हैं, जो चाहते हैं वही खाते और पीते हैं और सिवाय इस निश्शृङ्खलता के ईसाई धर्म को और कुछ नहीं समझते।

एक नहीं, सैकड़ों ईसाईयों ने इस भांति निराशा प्रकटकी है लंडन मिशनरी सोसाइटी की एक पिछली रिपोर्ट में लिखा हुआः—"We have, but little to record in the way of open successful work is among the lower castes who live on the skirts of the city" हमें जो कुछ कृतकृत्यता प्राप्त हुई है तो नीच जातियों में हुई है,जो प्रायः शहरों के वाह्य भागों में निवास करती हैं।" God and his book नामक पुस्तक में लिखा हुआ है:—ईसाई धर्म वन जङ्गली जातियों के लिये है जिनकी समझ थोड़ी है वौद्ध ब्राह्मणादि उच्च धर्मवाले मनुष्य उसकी असम्भव कथाओं में विश्वास नहीं कर सकते"। इस भांति आज ईसाई पादरी उच्चजातियों से निराशा होगये हैं। यह मुक्त कण्ठसे स्वीकार करना पड़ेगा कि वङ्गाल में ब्रह्मसमाज ने ईसाइयों की वढ़ती वाढ़ को रोका है, परन्तु संयुक्तप्रान्त और पञ्जाव में आर्य समाज ने ईसाइयों के पञ्जे से हिन्दुओं की रक्षा की है। इस स्थल पर प्रसंग वश, यह कह देना भी अनुचित न होगा कि ईसाई पादरियों को अन्त्यजों में जो सफलता प्राप्त हो रही है उसका कारण हिन्दुओं की उदासीनता है। "प्रताप"के राष्ट्रीय

अंक से चिढ़नेवाले कलकत्ते के एक समाचार पत्र, के सम्पादक महोदय की तरह के ही व्यक्तियों के कारण ही, ईसाइयों की हिन्दुओं की अन्त्यज जातियों में दाल गल रही है।

श्रमविभाग से वर्ण-व्यवस्था

स्वामी दयानन्द दूरदर्शी थे, वे जानते थे कि भारतीय राष्ट्र निर्माण में जब तक हिन्दुओं की नीच जातियों के साथ अच्छा वर्ताव नहीं किया जायगा, तब तक कुछ न कुछ बाधा उपस्थित होती रहेगी। इस लिये उन्होंने भारतवर्ष से जाति पांति के वर्तमान ढकोसलों के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी। वे कर्म्म को प्रधान समझते थे। उनके विचार में वर्णव्यवस्था Division of labour श्रमविभाग से होनी चाहिये थी। उन्होंने मनुस्मृति के आधार पर लिखा है कि शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण, कर्म स्वभाववाला हो, तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो वैसे ही जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुल में उत्पन्न हो के ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण व शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् चारों वर्णों में जिस वर्ण के सदृश जो जो पुरुष वा स्त्री हो, वह उसी वर्ण में गिनी जावे। उन्होंने चारों वर्णों का श्रमविभाग मनुस्मृति के आधार पर इस भांति लिखा है:—

ब्राह्मण को पढ़ना पढ़ाना, यज्ञ करना कराना दान देना लेना ये छः कर्म हैं। "प्रतिग्रहः प्रत्यवरः" अर्थात् प्रतिग्रह लेना नीच कर्म है। (शमः) मन से बुरे काम की इच्छा भी न करनी और उसको अनाचार में कभी प्रवृत्त न होने देना—(दमः) श्रोत्र और चक्षु आदि इन्द्रिय को अन्यायाचरण से रोककर धर्म में चलाना। (तपः) सदा ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय होके धर्मानुष्ठान करना:—

क्षत्रिय के कर्म के विषय में स्वामी दयानन्द कहते हैं कि न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़ के श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना सब प्रकार से सब का पालन, विद्या धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रोंकी सेवामें धनादि पदार्थों का व्यय करना: अग्निहोत्रादि यज्ञ करना ;वेदादिशास्त्रों का पढ़ना विषयों में न फंस कर जितेन्द्रिय रह के सदा शरीर और आत्मा से बलवान् रहना। सैकड़ों सहस्रों से भी युद्ध करने में अकेले को भय न होना, सदा तेजस्वी अर्थात् दीनता रहित प्रगल्भ दृढ़ रहना। धैर्य्यवान होना, राजा और प्रजा सम्बन्धी व्यवहार और सब शास्त्रों में अति चतुर होना, युद्ध में भी दृढ़ निःशङ्क रहके उससे कभी न हटना न भागना अर्थात् इस प्रकार से लड़ना कि जिससे निश्चित विजय होवे और जो भागने से वा शत्रुओं को धोखा देने से विजय होती हो तो ऐसा ही करना। दान-शीलता रखना, पक्षपात रहित होके सबके साथ यथायोग्य वर्तना, विचार के देना, प्रतिज्ञा पूरी करना, उसको कभी भंग न होने दे, ग्यारह क्षत्रिय वर्ण के कर्म और गुण हैं।

वैश्य के कर्म भी स्वामी जी मनुस्मृति के आधार पर यह लिखते हैं कि गाय आदि पशुओं का पालन करना विद्या धर्म को वृद्धि करने कराने के लिये धनादि का व्यय करना अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना। वेदादि शास्त्रों का पढ़ना सब प्रकार का व्यापार करना, एक सैकड़े में चार छः आठ बारह सोलह वा बीस आनों से अधिक ब्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और देना, खेती करना ये वैश्य के गुण कर्म हैं।

शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या अभिमान आदि दोषों को छोड़के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा यथावत् करना और उसीसे अपना जीवन व्यतीत करना यही एक शूद्र का कर्म है। क्योंकि संक्षेप से वर्णों के गुण और कर्म लिखे, जिस जिस पुरुष में जिस जिस वर्ण के गुण कर्म हों, उस उस वर्ण का अधिकार देना ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे तो शूद्र हो जायंगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल चलन और विद्यायुक्त न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा और नीच वर्णों को उत्तम वर्ण होने के लिये उत्साह बढ़ेगा। स्वामी दयानन्द जी समझ गये थे कि जब तक श्रमविभाग के अनुसार वर्ण व्यवस्था नहीं की जायगी तब तक इस देश में से जन्म के कारण योग्य से योग्य व्यक्तियों का जो निरादर हो रहा है वह कदापि दूर नहीं होगा।

गोरक्षा

हिन्दुओं का यदि कोई राष्ट्रीय झण्डा है तो वह गो माता है सभी धर्म सभी जाति के लोग सहर्ष इस झण्डे के नीचे आ जाते हैं। कौन ऐसा हिन्दू कुलांगार है ; जिसकी गोमाता पर भक्ति और श्रद्धा न हो ऋषि दयानन्द ने भी गोरक्षा के सम्बन्ध में विशेष-आन्दोलन किया था। और इस आन्दोलन में भी स्वामी दयानन्द के चरित्र की विशेष महत्ता प्रकट होती है। जो आर्य समाजी तर्क को स्थान न देकर अन्धभक्ति और अन्ध श्रद्धा के पीछे लट्ठ लेकर पड़े हुए हैं, वे एक बार आंखें खोल कर देखें कि स्वामी दयानन्द अन्धभक्ति और

अन्ध श्रद्धा के पक्षपाती न थे वे जानते थे कि जब तक तर्क द्वारा किसी विषय पर विश्वास न हो जाय, तब तक श्रद्धा नहीं होती है। इसलिये इन्होंने गोरक्षा के सम्बन्ध में धर्म की दुहाई न मचाकर, आर्थिक दृष्टि से विचार किया है। इस विषय में उनकी पुस्तक 'गोकरुणानिधि' साक्षी स्वरूप है! इस पुस्तक में स्वामी दयानन्द लिखते हैं—"एक गाय न्यून से न्यून दो सेर दूध देती हो और दूसरी बीस सेर तो प्रत्येक गाय के ग्यारह सेर दूध होने में कुछ भी शङ्का नहीं इस हिसाब से एक मास में ८।) सवा आठ मन दूध होता है एक गाय कमसे कम छः महीने और दूसरी अधिक से अधिक १८ महीने तक दूध देती है तो दोनों का मध्य भाग प्रत्येक गाय के दूध देने में बारह महीने होते हैं। इस हिसाब से बारह महीनों का दूध ९९ निन्नानवे मन होता है। इतने दूध को औटा कर प्रति सेर में छटाँक चावल और डेढ़ छटांक चीनी डाल कर खीर बना खावें तो प्रत्येक पुरुष के लिये दो सेर दूध की खीर पुष्कल होती है क्योंकि यह भी एक मध्यभाग की गिनती है। अर्थात् कोई दो सेर दूध की खीर से अधिक खा गया और कोई न्यून इस हिसाब से, एक प्रसूता गाय के दूध से १९८० एक हजार नव सौ अस्सी मनुष्य एकवार तृप्त होते हैं। गाय न्यून से न्यून ८ और अधिक से अधिक १८ वार ब्याती है। इसका मध्य भाग तेरह वार आया, तो २५७४० पचीस हजार सात सौ चालीस मनुष्य एक गाय के जन्म भर के दूध मात्र से एकवार तृप्त हो सकते हैं। इस गाय की एक पीढ़ी में छः बछियां और सात बछड़े हुये इन में से एक मर जावे तो भी बारह रहे। उन छः बछियों के दूध मात्र से उक्त प्रकार १५४४४० एक लाख चौवन हज़ार चार सौ चालीस

मनुष्यों का पालन हो सकता है।" इसके आगे उन्होंने भैंस, बकरी ऊंटनी आदि के दूध से गाय के दूध की तुलना की है। आगे वे लिखते हैं:—"आज कल के समय में कोई गाय आदि पशु जङ्गल में जाकर घास और पत्ता जो कि उन्हीं के भोजनार्थ है बिना महसूल दिये खावें वा खाने को जावें तो बेचारे उन पशुओं और उनके स्वामियों की दुर्दशा होती है। जङ्गल में आग लग जावे तो कुछ चिन्ता नहीं किन्तु वे पशु न खाने पावें।" अन्त में "गोकृष्यादि रक्षिणी" सभा की आवश्यकता बतलायी है, उसके नियम और उपनियम भी लिखे हैं।

गोरक्षा के सम्बन्ध में स्वामी जी का विचार एक मेमोरियल भी गवर्नमेंट के पास भेजने का था! उन्होंने इस विषय में बहुत से लोगों से लिखा पढ़ी भी की थी, जिनमें कितने ही राजा महाराजा भी थे, परन्तु उन्हें इसमें कृतकार्यता नहीं हुई।

हिन्दी भाषा

यह निश्चित सिद्धान्त है कि जिस देश की सभ्यता नष्ट करनी हो, पहले उसकी भाषा और इतिहास को नष्टकर दो। फिर उसकी सभ्यता अपने आपही नष्ट होजायगी। भारतीय राष्ट्र निर्माण में भाषा भेद भी किसी न किसी अंश में थोड़ा बहुत रुकावट डाल रहा है. स्वामी दयानन्द इस रुकावट को भी दूर करना चाहते थे, इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तथा अन्य कुछ सज्जनों ने स्वामी दयानन्द से पूर्व हिन्दी की उन्नति की ओर ध्यान दिया था और उन लोगों के प्रबल प्रयत्न से आज हिन्दी को यह

सौभाग्य प्राप्त है, परन्तु इस विषय में स्वामी दयानन्द का जो प्रयत्न है, उसे भूल जाना भी कृतघ्नता होगी। स्वामी दयानन्द ने इस विषय में कुछ कम प्रयत्न नहीं किया था। पाठक जानते हैं कि स्वामी दयानन्द हिन्दी भाषा भाषी नहीं थे। वे गुजरात प्रान्त के गुजराती थे परन्तु भिन्न भाषा भाषी होने पर भी उन्होंने हिन्दी का बहुत कुछ सेवा की थी अपनी सब पुस्तकें हिन्दी में ही लिखीं। अपने विचारों के प्रचार का मुख्य साधन, हिन्दी भाषा को ही बनाया। उन्होंने अपने मुख्य ग्रन्थ "सत्यार्थ प्रकाश" के आठवें समुल्लास में एक स्थल पर देश की वर्तमान अधोगति पर खेद प्रकट करते हुए कहा है:—"परन्तु भिन्न भिन्न भाषा, पृथक् २ शिक्षा अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है, विना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है"। द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्वागतकारिणी सभा के सभापति हिन्दी प्रेमियों के श्रद्धाभाजन स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण भट्ट ने भी अपने भाषण में कहा था:-"हिन्दी के सम्बन्धमें स्वामी दयानन्द और आर्यसमाजने भी बड़ा काम किया है। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों को हिन्दी में लिख आर्यसमाज के प्रत्येक सभासद का यह धर्म करदिया है कि वह हिन्दी में शिक्षा प्राप्त करे और दे। पञ्जाब में जो कुछ हिन्दी के लिये काम हो रहा है उसका यश अधिकांश आर्यसमाज ही को होगा। द्वितीय सम्मेलन के सभापति महोदय ने भी अपने व्याख्यान में कहा था:—"इस सम्बन्ध (अर्थात् हिन्दी) में स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी भी विशेष माननीय हैं। कारण, स्वामी दयानन्द सरस्वती महोदयने भी हिन्दी का सविशेष उपकार किया। वेदों का हिन्दी भाष्य उनकी

अटल कीर्त्ति है । आज स्वामीजी महाराज के घोर परिश्रम के कारण ही पंजाब में तथा अन्य प्रान्तों में भी हिन्दी का प्रचार उत्तरोत्तर अधिक हो रहा है। इस भांति और भी कितने ही हिन्दी प्रेमियों ने समय समय पर ऋषि दयानन्द के हिन्दी प्रचार की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। आज भी आर्य्यसमाज के गुरुकुलों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी है।

शिक्षा पर स्वामी जी

हमारी इच्छा थी कि इसके कुछ पृष्ठ स्वामी दयानन्द सरस्वती की पुस्तकों की पर्यालोचना में भी खर्च करते, किन्तु स्थानाभाव से वैसा करने में असमर्थ हैं। इस लिये हम यहां पर उनके ग्रन्थों में से मुख्य अंशों का पाठकों की भेंट करदेना आवश्यक समझते हैं।' जिससे पाठकों को स्वामी दयानन्द के विचारों का पता लग जावेगा। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश' में दो अध्याय शिक्षा सम्बन्धी विषयों के रखे हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि स्वामी दयानन्द जो कुछ कहते थे उसके लिये वेदादि शास्त्रों का प्रमाण पहले देते थे। उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' के द्वितीयाध्याय में बालकों को शिक्षा का वर्णन किया है। 'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद, शतपथ ब्राह्मण का यह वचन उद्धृत करते हुये स्वामी दयानन्द यह कहते हैं:—वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य है! वह संतान बड़ा भाग्यवान् है! जिसके माता पिता धार्मिक विद्वान् हों जितना माता से संतानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम और

उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं करता इस लिये (मातृमान्) अर्थात् "प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्म स मातृमान्" धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे। बहुत से हमारे पाठक चौंकेंगे कि गर्भाधान से कैसे शिक्षा हो सकती है और बहुत से लोग तो स्वामीजी के इस वाक्य को शेखचिल्ली कीसी बातें बतलावेंगे, परन्तु नहीं वस्तुतः बालक का चरित्र माता के गर्भ के समयसे ही बन जाता है। गर्भवती माता के जैसे विचार होते हैं वैसे ही बालक के हो जाते हैं। प्रायः गर्भवती माता के विचारों का बालकों के स्वभाव पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। सुना जाता है कि एक बार अमेरिका में एक अमेरिकन महिला के लड़का हुआ। लड़का काले रङ्गका था। इसपर उस स्त्री के पतिको स्त्री के चरित्र पर सन्देह हुआ। वह अपनी स्त्री को divorce परित्याग करने को तैयार होगया। स्त्री का चरित्र निर्दोष था, एक कमीशन स्त्री के चरित्र की जांच करने के लिये बैठा कमीशन ने जांच की तो ज्ञात हुआ कि स्त्री का चरित्र निर्दोष है, परन्तु उसके कमरे में एक काले हबशी की तसवीर थी, जब यह स्त्री गर्भवती थी, तब इसका ध्यान बराबर उस चित्र की ओर लगा रहता था, जिसके कारण इसके यह काले रङ्ग का लड़का हुआ है।

कहने का तात्पर्य यह है कि गर्भवती माता के विचार और स्वभाव का गर्भ के बालकों पर विशेष प्रभाव पड़ता है। कौन ऐसा हिन्दू सन्तान है जो यह नहीं जानता कि अर्जुन ने सुभद्रा से जब अभिमन्यु गर्भ में था, तब चक्रव्यूह तोड़ने का जिक्र किया था। जिसका प्रभाव बालक अभिमन्यु पर जो कुछ हुआ वह किसी से छिपा नहीं है? इसीलिये ऋषि ने माताओं

को गर्भ से ही बालकों की शिक्षा की व्यवस्था दी है। जो लोग लड़कों को भूत प्रेतादि से डराया करते हैं उसका निषेद किया गया है। इस विषय पर वल दिया है कि बालक ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय बनें इस प्रकार के भोजन, छादन और व्यवहार पर विशेष वल दिया है। जिनसे आरोग्य वल और विद्या प्राप्त हो। तृतीय समुल्लास में स्वामी दयानन्द लिखते हैं—"सन्तानों को उत्तम विद्या शिक्षा गुण, कर्म और स्वभाव रूप आभूषणों का धारण कराना माता, पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है। सोने चांदी माणिक मोती मूंगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण करने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकता। क्योंकि आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयाशक्ति और चोर आदि का भय तथा मृत्यु भी सम्भव है। संसार में देखने में आता है कि आभूषणों के योग से बालकादि की मृत्यु दुष्टों के हाथ से होती है। इस प्रकार से आभूषणों की निन्दा करते हुये आगे उन्होंने लिखा है:—........इसीलिये आठ वर्ष के हों तभी लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की पाठशालाओं में भेज देवें। जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों उनसे शिक्षा न दिलावें। किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों वेही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं। द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्य कुल अर्थात् अपनी अपनी पाठशाला में भेज दें। विद्या पढ़ाने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिये। जो न वहां अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य हों वे कन्याओं की पाठशालाओं में सब स्त्री, और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहें। स्त्रियों की

पाठशाला में पांच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पांच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे। इसके आगे उन्होंने ब्रह्मचर्य अवस्था में स्त्री, पुरुषों की परस्पर मिलने जुलने हंसने आदि की मनाई की है। पाठशालाओं के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द लिखते हैं:—पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोश दूर ग्राम वा नगर रहें। सबको तुल्य वस्त्र खान पान आसन दिये जांय, चाहे वे राजकुमार या राजकुमारी हों चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सब को तपस्वी होना चाहिये। उनके माता पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र व्यवहार एक दूसरे से कर सकें जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रक्खें। जब भ्रमण करने को जावें तब उनके साथ अध्यापक रहें जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य प्रमाद करें—मालूम होता है कि स्वामी दयानन्द compulsary education (अनिवार्य शिक्षा) के भी बड़े पक्षपाती थे। क्योंकि उन्होंने लिखा है:— "राजनियम और जाति नियम होना चाहिये कि पांचवें और आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़के और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशालों में अवश्य भेज देवें जो न भेजें वह दण्डनीय हों"। फिर उसी प्रकरण में दूसरे स्थान में लिखते हैं:-"राजा को योग्य है कि सब कन्याओं और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रख के विद्वान् करावे जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता पिताको दण्ड देना चाहिये अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावे किन्तु आचार्यकुल में रहे, जब तक समावर्तन का समय न आवे

विवाह न होने पावे।" इसी प्रकरण में स्वामी दयानन्द ने पठनपाठन की विधि लिखी है. अष्टाध्यायी महाभाष्य तक व्याकरण के पढ़ने के लिये विशेष वल दिया है। व्याकारण के सिवाय संस्कृत साहित्य के और भी अनेक ग्रन्थों के नाम लिखे हैं। वैद्यक, गान्धर्व विद्या अर्थात् सङ्गीत और ज्योतिष शास्त्र के पढ़ने की भी सम्मति दी है। धनुर्वेद अर्थात् शस्त्र विद्या के विषय में लिखा है कि राजकार्य में सब सेना के अध्यक्ष शस्त्रास्त्र विद्या, नाना प्रकारके व्यूहों का अभ्यास अर्थात् जिसको आजकल" कवायद" कहते हैं जो कि शत्रुओं से लड़ाई के समय में क्रिया करनी होती है उनको यथावत् सीखें और जो जो प्रजा के पालने और वृद्धि करने का प्रकार है, उनको सीख के न्यायपूर्वक प्रजा को प्रसन्न करें" !*...... शिल्पविद्या के भी स्वामी दयानन्द बड़े पक्षपाती थे। वे लिखते हैं कि अथर्ववेद कि जिसको शिल्प विद्या कहते हैं, उसको पदार्थगुण विज्ञान क्रिया कौशल नाना विधि पदार्थोंका निर्माण पृथ्वी से लेके आकाश पर्यन्त की विद्या को यथावत सीख के अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को वढ़ानेवाली है, उस विद्या को सीख के दो वर्ष ज्योतिष शास्त्र सूर्यसिद्धान्तादि जिसमें वीज गणित अङ्कगणित भूगोल खगोल और भूगर्भविद्या है, इसको यथावत् सीखें तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया, यन्त्र-कला आदि को सीखें। "सत्यार्थप्रकाश" के अतिरिक्त उनके वेद भाष्य में भी अनेक स्थानों पर शिल्पकला के सीखने का आदेश किया गया है।

*ऋषि दयानन्द ने फ़रुक्खाबाद मिर्ज़ापुर आदि कई स्थानों में संस्कृत पाठशालाएं खोलीं थीं, परन्तु योग्यब्रह्मचारियों के अभाव से वत्त पाठशालाएं नहीं चल सकीं।

"सत्यार्थप्रकाश" के कई समुल्लासों को देखने से ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द प्रत्येक गृहस्थ को आदर्श गृहस्थ देखना चाहते थे। इसलिये उन्होंने कई स्थानों पर स्त्री शिक्षा पर भी विशेष बल दिया है। शूद्रों के विद्या पढ़ने में कोई रोक टोक नहीं रक्खी है। एक जगह वे लिखते हैं:—"ब्राह्मण और क्षत्रिय को सब विद्या, वैश्य को व्यवहार विद्या और शूद्रों को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिये। जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये वैसे ही स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म वैद्यक गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये क्योंकि इनके सीखे विना सत्याऽसत्य का निर्णय, पति आदि के अनुकूल वर्ताव, यथायोग्य सन्तानोत्पति उनका पालन वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घरके सब कार्य्यों को जैसा चाहिये वैसा करना, वैद्यक विद्या से औषधवत अन्न पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकतीं जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहें। गणित विद्या के जाने विना सब का हिसाब समझ समझाना वेदादि शास्त्र विद्या के विना ईश्वर और धर्म को न जानके अधर्म से कभी नहीं बच सकेंगी।"

स्वामी दयानन्द अङ्गरेज़ी शिक्षा के विरोधी नहीं थे। यदि विरोधी होते तो जहां उन्होंने जिन ग्रन्थों के पढ़ने की मनाई की है वहां वे अङ्गरेज़ी शिक्षा की भी मनाई लिखते उनका कहना था कि पहले अपने ऋषि मुनियों के ग्रन्थ पढ़ो फिर उसके पश्चात और और भाषाएं पढ़ो। अङ्गरेज़ी ज़रूर पढ़ो, क्योंकि वह राजभाषा है।

विवाह का समय

बाल विवाह पर तो स्वामी दयानन्द ने भारी कुठार चलाया है। उन्होंने बाल विवाह को देश की विशेष अधोगति का कारण समझा है। विवाह का समय उन्होंने कन्याओं का कम से कम सोलह वर्ष और कुमारों का पच्चीस वर्ष का रक्खा है। वे एक स्थान पर लिखते हैं:—"सोलहवें वर्ष के पश्चात् चौवीसवें वर्ष पर्यन्त विवाह होने से पुरुष का वीर्य परिपक्व शरीर बलिष्ट, स्त्री का गर्भाशय पूरा और शरीर भी बलयुक्त होने से सन्तान उत्तम होते हैं।......"सोलहवें वर्ष से चौवीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीवें वर्ष से ले के अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय उत्तम है, उसमें जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे तो निकृष्ट अठारह वीस की स्त्री, तीस पैंतीस वा चालीस वर्षके पुरुष का मध्यम, चौवीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना उत्तम है। जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य और विद्याभ्यास अधिक होता है वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्या ग्रहण रहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दुःख में डूब जाता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है।

ऋषि दयानन्द स्वयम्बर विवाह inter-marriage के भी बड़े पक्षपाती थे। विवाह के प्रसङ्ग में वे लिखते हैं:—"जब तक इसी प्रकार सब ऋषि मुनि राजा महाराजा आर्य लोग ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ ही के स्वयंवर विवाह करते थे तब इस

देश की सदा उन्नति होती थी। जब से वह ब्रह्मचर्य्य विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता पिता के आधीन विवाह होने लगा तब से क्रमशः आर्य्यावर्त्त देश की हानि होती चली आई है। इस से इस दुष्ट काम को छोड़ के सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें सो विवाह वर्णानुक्रम से करें और कर्मव्यवस्था भी गुण कर्म स्वभाव से होनी चाहिये।

विदेशी यात्रा

विदेशयात्रा के भी स्वामी दयानन्द बड़े पक्षपाती थे। विद्यार्थियों के कर्त्तव्य लिखने के समय द्वीप द्वीपान्तर गमन की सलाह दी है दशम समुल्लास में लिखते हैं:—"श्रीकृष्ण तथा अर्जुन पाताल में अश्वतरी अर्थात् जिसको अग्नियान नौका कहते हैं उस पर बैठ के पाताल में जाके महाराजा युधिष्ठिर के यज्ञ में उद्दालक ऋषि को ले आये थे। धृतराष्ट्र का विवाह गान्धार जिसको "कन्धार" कहते हैं, वहां की राजपुत्री से हुआ। माद्री पाण्डु की स्त्री "ईरान" के राजा की कन्या थी और अर्जुन का विवाह पाताल में जिसको "अमेरिका" कहते हैं वहां के राजा की लड़की उलोपी के साथ हुआ था। जो देश देशान्तर द्वीप द्वीपान्तर में न जाते तो ये सब बातें क्यों कर हो सकतीं? मनुस्मृति में जो समुद्र में जानेवाली नौका पर कर लेना लिखा है वह भी आर्य्यावर्त्त से द्वीपान्तर में जाने के कारण है और जब महाराजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था उसमें सब भूगोल के राजाओं के बुलाने को निमन्त्रण देने के लिये भीम, अर्जुन, नकुल और

सहदेव चारों दिशाओं में गये थे जो दोष मानते तो कभी न जाते सो प्रथम आर्य्यावर्त देशीय लोग व्यापार राजकार्य्य और भ्रमण के लिये सब भूगोल में घूमते थे। और आज कल छूत छात और धर्म भ्रष्ट होने की शङ्का है वह केवल मूर्खों के बहकाने और अज्ञान बढ़ने से है। जो मनुष्य देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर में जाने आने में शङ्का नहीं करते वे देश देशान्तर के अनेक विधि मनुष्यों के समागम रीति भांति देख ने अपना राज्य और व्यहार बढ़ाने से निर्भय शूरवीर होने लगते और अच्छे व्यवहार का ग्रहण बुरी बातों के छोड़ने में तत्पर होके बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। भला जो महाभ्रष्ट म्लेच्छ कुलोत्पन्न वेश्या आदि के समागम से आचार भ्रष्ट धर्म हीन नहीं होते किन्तु देश देशान्तार के उत्तम पुरुषों के साथ समागम में छूत और दोष मानते हैं !!!"

खान पान सम्बन्धी विचार

स्वामी दयानन्द इस बात के पक्षपाती नहीं थे कि किसी के हाथ का न खांय। परन्तु भोजन बनाने में शुद्धता और पवित्रता रखने की उन्होंने सलाह दी है। इस विषय में वे लिखते हैं। "आर्य्यों के घर में शूद्र और मूर्ख स्त्री पुरुष पाकादि करें परन्तु वे शरीर वस्त्र आदि से पवित्र रहें। आर्य्यों के घर में जब रसोई बनावें तब मुख बांधके बनावें क्योंकि उनके मुख से उच्छिष्ट और निकला हुआ श्वास भी अन्नपर न पड़े। आठवें दिन क्षौर और नख छेदन करावें स्नान करके पाक बनाया करें। आर्य्यों को खिलाके आप खावें। इस सम्बन्धमें आगे उन्होंने शुद्धता और पवित्रता पर विशेष बल देते हुये लिखा है जो

ब्राह्मणादि वर्णस्थ स्त्री पुरुष रसोई बनावें तो बराबर सब आर्य्यों के साथ खाने में कुछ भी हानि नहीं क्योंकि जो ब्राह्मणादि वर्णस्थ स्त्री पुरुष बनाने चौका देने बर्तन भांड़े माजने आदि बखेड़े में पड़े रहें तो विद्यादि शुभ गुणों की वृद्धि कभी नहीं होसके। देखो ! महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भूगोल के राजा, ऋषि महर्षि आये थे एक ही पाकशाला से भोजन किया करते थे, जब से ईसाई मुसलमान आदि के मत मतान्तर चले, आपस में वैर विरोध हुआ उन्होंने मद्यपान मांसादि का खाना पीना स्वीकार किया, उसी समय से भोजनादि में बखेड़ा हो गया।"

साधु-सुधार

स्वामी दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाश में ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थादि सब के कर्तव्यों का निरूपण किया है। जिस को हम स्थान के सङ्कोच के कारण यहां उद्धृत करने में असमर्थ हैं। परन्तु ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थादि के कर्तव्यों का निरूपण करते हुये स्वामी दयानन्द संन्यासियों के कर्तव्य को नहीं भूले हैं। उन्होंने वर्तमान समय के हाथ में चिमटा लिये हुये, "दाता भला करें"—कहने वाले साधुओं को बड़ी फटकार बतलाई है। इस प्रश्न को उठाते हुए कि ब्रह्मचारी, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट हुये बिना संन्यासी हो सकता है या नहीं लिखते हैं:—"जिस पुरुष और स्त्री को विद्या, धर्म, वृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो वह विवाह न करे। जैसे पंचशिखादि पुरुष और गार्गी आदि स्त्रियां हुई थीं इसलिये संन्यासियों का होना

अधिकारियों को उचित है और जो अनधिकारी संन्यास ग्रहण करेगा तो आप डूबेगा औरों को भी डुबावेगा। जैसे "सम्राट्" चक्रवर्ती राजा होता है वैसे "परिव्राट्" संन्यासी होता है प्रत्युत राजा अपने देश में वा सम्बन्धियों में सत्कार पाता है और संन्यासी सर्वत्र पूजित होता है। साम्प्रदायिक झंझटों से साधुओं को सावधान रहने को उपदेश दिया है।

राजधर्म

स्वामी दयानन्द संन्यासी थे वे उपदेष्टा थे। उनके विचार में जो कुछ उचित जंचा, उसका उन्होंने प्रचार किया। उन्होंने वेद तथा संस्कृत के अन्य प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर राजधर्म भी लिखा है। उन्होंने मनुके एक श्लोक के आधार पर लिखा है "राजा और प्रजा के पुरुष मिलके सुख-प्राप्ति और विज्ञान वृद्धि कारक राजा प्रजा के सम्बन्ध रूप व्यवहार की तीन सभायें अर्थात् विद्यार्य्य-सभा, धर्मार्य्य सभा और राजार्य्य सभा नियत कर बहुत प्रकार के समाज प्रजा सम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को सब ओर से विद्या स्वातन्त्र्य धर्म सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें"। आगे वे एक वेदमंत्र के अभिप्राय को लिखते हैं:—"एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिये किन्तु राजा जो सभापति तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे"। इन तीनों सभाओं की विशेष रूपसे व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं— "तीन सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और

नियमों के आधीन सब लोग वर्तें सब के हितकारक कर्मों में सम्मति करें, सर्व हित करने के लिये परतन्त्र और धर्मयुक्त कामों में अर्थात् जो जो जिनके काम हैं उनमें स्वतन्त्र रहें"। ऐसी सभा के सभापति के जो लिखे गुण हैं वे भी पढ़ने योग्य हैं। मनुस्मृति के कई श्लोकों के आधार पर ऋषि दयानन्द लिखते हैं:—"वह सभेश राजा इन्द्र अर्थात् विद्युत के समान शीघ्र ऐश्वर्य्य कर्त्ता, वायु के समान सब के प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जाननेहारा, यम पक्षपात रहित, न्यायाधीश के समान वर्तनेवाला, सूर्य्यके समान न्याय धर्म विद्या का प्रकाशक अन्धकार अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करनेहारा, वरुण अर्थात् बांधने वाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधनेवाला, चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों का अन्नदाता, धनाध्यक्ष के समान कोशों का पूर्ण करनेवाला सभापति होवे" इस भांति लिखकर उन्होंने अन्यायी राजाओं को बड़ी फटकार बतलाई है। इस अध्याय में प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर उन्होंने राजाओं के जानने योग्य और भी बहुत सी बातें लिखी हैं। रिश्वत लेनेवाले राजकर्मचारियों को कठोर दण्ड की व्यवस्था दी है। संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर ही दुर्ग सेनादि का वर्णन किया है।

स्फुट विषय

चाहे कोई स्वामी दयानंद की सब बातों से सहमत हो या न हो, यह बात जुदा है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं यह बात माननी पड़ेगी कि स्वामी दयानन्द ने बड़े परिश्रम से अपने ग्रन्थ

लिखे हैं। उनके ग्रन्थों में बहुत सी बातें जानने विचारने और मानने योग्य हैं। "सत्यार्थ प्रकाश" में से कुछ अंश ऊपर उद्धृत कर आये हैं। ६३० पृष्ठ रायल साइज़ का "सत्यार्थ प्रकाश" है उसमें से कहां तक उद्धृत किया जा सकता है। इस ग्रन्थ के दो भाग हैं पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध-पूर्वार्द्ध में आर्य जाति के कर्त्तव्योंका निरूपण है-उत्तरार्द्ध में भिन्न भिन्न मतावलम्बियों के धर्म सम्बन्धी विचारों पर विचार किया गया है। सब धर्मों की तुलना करते हुये अन्त में वैदिक धर्म को सर्वोत्कृष्ट माना है। "सत्यार्थ प्रकाश" में अनेक स्थलों पर स्वामी जी के देश सम्बन्धी विचार देखने योग्य हैं। जिन से ज्ञात होता है कि स्वामी जी जितने ईश्वर भक्त थे, उतनेही देश भक्त भी थे।

सत्यार्थ प्रकाश के अतिरिक्त स्वामी जी के लिखे निम्न ग्रंथ औरहैं:-"संस्कारविधि" "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" "वेदभाष्य" "वेदाङ्ग प्रकाश" "गोकरुणानिधि" "पञ्चमहायज्ञविधि" "आर्य्याभिविनय" "आर्य्योद्देश रत्नमाला" "व्यवहारभानु"। शोक है कि हमारे पास इन सब ग्रन्थों की पूरी आलोचना करने का स्थान नहीं है।-परन्तु इतना कहे बिना नहीं रह सकते हैं कि व्यवहारभानु, आर्य्योद्देशरत्नमाला, विद्यार्थियों के लिये बड़े उपयोगी हैं। "सत्यार्थप्रकाश" "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" "वेद भाष्य" आदिक प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को विचारना चाहिये।-"वेदाङ्ग-प्रकाश" व्याकरण के पण्डितों के लिये विचारणीय है।

क्या आर्यसमाज राजनैतिक संस्था है?

आर्य समाज पर विपत्ति के काले काले बादल कितनी

ही बार मंडराय चुके हैं और अब भी मंडरा रहे हैं। आर्य-समाज के शत्रुओं को जब आर्य समाज को कुचलने के लिये और कोई युक्ति नहीं मिलती है, तब वे आर्य समाज के सम्बंध में उलटी पुलटी काली कुबरी बातें कहने लग जाते हैं कि आर्य समाज राजनैतिक संस्था है। पर वास्तव में विचारना चाहिये कि क्या आर्य समाज राजनैतिक संस्था है ? इसमें सन्देह नहीं कि राजनीति कोई बुरी वस्तु नहीं है पर आज-कल इस शब्द के अर्थ प्रायः बहुत से बुद्धि के शत्रु गवर्नमेंट के विरुद्ध कुछ कार्य करना समझते हैं। स्मरण रखना चाहिये कि राजद्रोह और राजनीति में बहुत अन्तर है परन्तु जैसे आजकल बहुत से लोगों ने देशभक्ति के अर्थ राजद्रोह के समझ रक्खे हैं, वैसे ही बहुत से लोगों ने राजनीति के अर्थ भी राजद्रोह के समझ रक्खे हैं। परन्तु ऐसे समझनेवालों की भूल है और गहरी भूल है न तो राजनीति के न देशभक्ति के अर्थ राजद्रोह है। न करे भगवान् कि हमारे देश के निवासियों के हृदय में राजनीति और देशभक्ति के ऐसे बुरे अर्थ उत्पन्न हों; निश्चय समझिये कि जिस दिन ऐसे बुरे भाव हमारे देश वासियों के हृदय में उत्पन्न होंगे उस दिन सचमुच ही भारत-वर्ष में दुर्दिन उपस्थित होगा। लेकिन नहीं, विचार पूर्वक देखा जाय तो आर्य समाज का राजद्रोहसे सम्बन्ध तो दूर रहा पर राजनीति से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। आर्य समाज का उद्देश्य मनुष्य मात्र को कल्याण प्रदायिनी शिक्षा देना है। आर्य समाज़ मनुष्य मात्र का भला चाहता है। आर्य समाज की शिक्षाएं मनुष्य मात्र के हृदय में शान्ति के प्रादुर्भाव करना चहती हैं। आर्य समाज का और कोई उद्देश्य नहीं है।

आर्यसमाज को अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ही बहुत सी व्यक्तियों और जातियों का कोपभाजन होना पड़ा है। आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द तथा उनके अनुयायियों ने जिस भांति दूसरे धर्मवालों की कड़ी आलोचना की थी और अब भी समय समय पर उसके उपदेशक जो कड़ी आलोचना करते हैं, उससे चिढ़ कर अन्य मतावलम्बियों ने आर्यसमाज को नष्ट करने का यही उपाय समझा है कि यह आन्दोलन किया जावे कि आर्यसमाज राजनैतिक संस्था है और कैसी राजनैतिक संस्था, जिसके भीतर हलाहल राजद्रोह का विष भरा हो। भला इस झूंठ का भी कुछ ठिकाना है? आर्यसमाज के मत्थे राजद्रोह का कलङ्क मढ़ना, उतनाही सत्य है जितना कोई दिन दहाड़े सूर्य के प्रकाश को कहे कि अन्धकार छाया हुआ है।

आर्यसमाजकी राजभक्ति कौन्सिलोंमें विशेष अधिकार पाने के लिये नहीं है। न उसकी राजभक्ति म्युनिसिपेलिटी और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में विशेष अधिकार पाने की है। आजतक आर्यसमाज ने अपनी राजभक्ति की दुहाई मचा कर यह प्रार्थना भी नहीं की है कि उसके सभासदोंको सरकारी नौकरियां अधिक मिलें, तब तो विज्ञजन स्वयं सोच लें कि आर्यसमाज को राजनैतिक संस्था कहना कहां तक ठीक है?

एक जाति ने बहुत आन्दोलन कर के, अपने हिन्दू, पारसी आदि भाइयों के स्वार्थ को कुचल कर, उन से वैमनस्य बढ़ा कर कौन्सिलों में विशेष अधिकार प्राप्त किया है, परन्तु आर्यसमाज को प्रारम्भिक अवस्था में ही यह अवसर मिला था किन्तु आर्यसमाज ने इस विषय में चेष्टा नहीं की। उस समय आर्यसमाज ने यही कहा था कि आर्य-

समाज के सभासद, आर्यसमाज के सभासदों की हैसियत से कोई अधिकार नहीं चाहते हैं। इस विषय में लाहौर आर्यसमाज की अन्तरङ्ग सभा ने सन् १८८६ की १२ वीं नवम्बर को नेशनल लीग के पत्र के उत्तर में यह निश्चय किया था:—

चिट्ठी सेक्रेटरी नेश्नल लीग, वास्ते देने मेमोरियल व हजूर नव्वाव गवर्ननर जनरल व वाइसराय हिन्द बिनावर भेजने प्रतिनिधियों के गवर्नर जनरल हिन्दमें पेश हुई "चूंकि यह मुआमिला पुलिटिकल है और पुलिटिकल मुआमलात में दख़ल देना अग़राज़ समाज से बाहिर है, इसलिये इत्तिफ़ाक़ राय से तजवीज़ हुआ कि जनाब सेक्रेटरी नेशनल लीग को लिखा जावे कि यह समाज इस मुआमले में कुछ कारवाई नहीं कर सकता" बस इससे बढ़कर आर्यसमाज का राजनीति से तटस्थ रहने का क्या परिणाम मिल सकता है ? इस विषय में मर्दुमशुमारी में सुपरिन्टेन्डेन्ट की रिपोर्ट विशेष साक्षी स्वरूप है जिसमें उन्होंने कहा है कि आर्यसमाज दृढ़ राजभक्त संस्था है।

अब दूसरा प्रश्न रह गया कि क्या सचमुच आर्य समाज राजद्रोही है ? इस विषय में मैडम ब्लवेट्स्की ने लिखा है उसका भावार्थ यह है:— "यह (स्वामी दयानन्द) ग्रेट ब्रिटेन का दुश्मन नहीं, लेकिन मित्र है। वह स्पष्ट कहता है कि यदि आज यहां से अंगरेज़ी निकाल दीजाय तो इसका यह परिणाम होगा कि कल ही तुम्हारा और मेरा सब आर्यों का जो मूर्त्ति पूजा के विरुद्ध हैं गला भेड़ बकरी के समान काटा जावेगा।"

प्रोफ़ेसर मैक्समुलर लिखते हैं:—"स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवनचरित्रकी हमारे पास बहुत सामग्री है। उन्होंने ब्राह्मण

धर्म में विशेष संशोधन किया है और जहां तक समाज सुधार का सम्बन्ध है, वह बड़े उदार हृदय के मनुष्य प्रतीत होते हैं। वह ब्राह्मण ग्रन्थों में अपौरुषेयत्व विश्वास को भी छोड़ने में तत्पर थे। यद्यपि वैदिक मन्त्रों के सम्बन्ध में इस विश्वास को पूर्णबल से स्थिर रक्खा। उन्होंने शृंखलाबद्ध भाष्य प्रकाशित किया, जिससे उनका संस्कृत पर पूर्ण अधिकार प्रतीत होता है। परन्तु विश्लेषकारिणी बुद्धि का अत्यन्त अभाव झलकता है। उन्होंने विधवा विवाह को विधेय बतलाया, कुमार और कुमारियों के विवाह की अवस्था बढ़ाने के के आन्दोलनको उत्तेजित किया। जाति पांति, खान पान आदि विषयोंमें से बहुत विश्वासोंको स्वतन्त्र सिद्ध कर दिया। उन्होंने मूर्त्ति पूजा और अनेकेश्वरवाद तक को खण्डन किया। यूरुप में भी वे बहुत विख्यात होगये हैं। जब से वह उस जाल में फंसे जो मेडम ब्लवेस्टकी ने उनके लिये बिछाया था, लेकिन यह स्थिति कुछ दिनों तक रही। और जब संन्यासी ने यह देख लिया कि मेडम का वास्तविक अभिप्राय क्या था, तो उन्होंने उन से सब प्रकारका सम्बन्ध छोड़ दिया। मैडमवैसी न निकली, जैसी उन्होंने आशा की थी। वे अंगरेज़ी नहीं जानते थे और मैडम* बँगला या संस्कृत नहीं जानती थी इस कारण आरम्भ में वे एक दूसरेको न समझ सके। परन्तु पीछे आकर जैसा सुना जाता है कि वे एक दूसरे को भली प्रकार समझ गये। कुछ भी इसमें सन्देह नहीं वे बड़े बलवान् विपक्षी थे, और उनका प्रभाव बढ़ते २ यहां तक बढ़ा कि यह संदेह किया जाता है कि अन्त में उसके विरोधी कट्टर और

---

* प्रोफ़ैसर मैक्समूलर ने शायद स्वामीजी की मातृभाषा बंगला समझी थी।

पुरानी चाल पर चलनेवाले ब्राह्मणों ने अपने भयानक प्रतिद्वन्द्वी को विष दे दिया। उनकी मृत्यु आकस्मिक हुई परन्तु भारतवर्ष में उनके अनुयायियों का आर्य समाज के नाम से अब भी बहुत बड़ा और बढ़ता हुआ समुदाय है जो पश्चिमी विचारों से अलग रहता है"।

इस भांति केवल प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने ही अपनी यह सम्मति प्रकट नहीं की है किन्तु और भी अनेक विद्वान और सज्जनों ने अपनी ऐसी ही सम्मति दी है। किसीने भी स्वामी दयानन्द को राजद्रोही नहीं कहा और न आर्य समाजको राजद्रोही बतलाया है। कौन नहीं जानता कि प्रयाग में सनातन धर्म के एक उपदेशक संन्यासीने इस बातके प्रमाणित करनेकी चेष्टा की थी कि आर्य समाज राजद्रोही संस्था है। यह मामला प्रयाग के ज़िला मजिस्ट्रेट के यहाँ पहुंचा, तत्कालीन जिला मेजिस्ट्रेट मिस्टर जी० हरिसेन ने २६ नवम्बर सन् १८९० को फ़ैसला किया था, उसमें लिखा है:—"मैं इन उद्धृत अंशों में राजद्रोह की उत्तेजनाका कोई चिह्न नहीं देखता। लेकिन उनमें इस बात पर दुःख प्रकट किया गया है कि हिन्दू लोग बहुत से धार्मिक और सदाचार सम्बन्धी कारणों में एक परतन्त्र जाति बन गये हैं। मुझे दयानन्द के प्रचारका साधारणतः यह उद्देश्य जान पड़ता है कि उसकी सुधार के लिये प्रबल प्रेरणा थी, जिसका शायद यह लक्ष्य था कि अन्त में राज्य देशीय हाथों में वापिस आजाय, एक प्रकार से स्वामी दयानन्द ने यह मान ही लिया है कि आजकल के हिन्दुओं में ऐसे स्वाभाविक दोष हैं जिन्होंने उन्हें अपने ऊपर शासन करनेके अयोग्य बना दिया है"।

हिन्दू संन्यासीने ही नहीं और भी लोगोंने समय समयपर

आर्य समाज पर ऐसे कलङ्क लगाने की चेष्टा की है । परन्तु ईश्वर की कृपा से आर्य समाज ऐसी परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुआ है। अभी पिछले दिनों की बात है कि एक कालेज के अङ्गरेज़ प्रिंसपल को भारतवर्ष की सामयिक घटनाओं को लेकर एक उपन्यास लिखने की सूझी। उसनेSri Ram a Revolutonist नाम से उपन्यास लिखही डाला। इसमें गुरुकुल को राज विद्रोहियों का अड्डा साबित करने की चेष्टा की। इस पुस्तक को देखकर आर्य समाजों में बड़ा आन्दोलन मचा और आन्दोलन होना आवश्यक भी था क्योंकि एक पवित्र संस्था को ऐसे क्यों बदनाम किया जाय। जब ऐसे बहुत से एङ्गलो इंडियन तथा अन्य लोग आर्य समाज को बदनाम करने की चेष्टा कर रहे हैं तब तो ऐसे बहुतसे सज्जन भी हैं जो मुक्तकण्ठसे यह स्वीकार करते हैं कि आर्य समाज राजनैतिक संस्था नहीं है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि किसी ने पिछले दिनों विलायत के राउन्ड Round अख़बार में आर्य समाज के अच्छे कामों की सराहना की थी।

अस्तु प्रश्न यह है कि राजद्रोह क्या है ? यदि शिक्षा का प्रचार करना राजद्रोह है तो फिर क्या इतने स्कूल कालेज सब राजद्रोहकी शिक्षा देते हैं ? नहीं, कदापि नहीं, तब आर्य्य-समाज के गुरुकुल और दयानन्द एङ्गलो वैदिक कालेज को ऐसी दृष्टि से क्यों देखना ? उक्त संस्थाएं पश्चिम भारत में अनुपम कार्य कर रही हैं उनपर व्यर्थ दोषारोपण करने से कुछ लाभ नहीं है। क्या अनाथालय कन्या-पाठशालादि राज-द्रोह के लिये हो सकती हैं। इस प्रकार के विचार किसी सम-झदार मनुष्य के नहीं हो सकते हैं । मैनचेष्टर "गार्डियन" के सम्वाददाता मिस्टर एच० डबल्यू० नेविन्सन, मिसेज़ एनी-

बीसेन्ट, डाक्टर रदरफोर्ड आदि सबने एक स्वरसे स्वीकार किया है कि आर्यसमाज न तो राजनैतिक संस्था है न राज-द्रोही है 'सत्यार्थ प्रकाश' के जिन अंशों को राज द्रोही कहा जाता है, उनसे बढ़ कर अङ्गरेज़ी की पुस्तकों में मिलते हैं। क्या कोई समझदार व्यक्ति मिल की "रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेंट" लेकी की "डीमोक्रेसी एण्ड लिबर्टी" सिले की—"एक्सपेनशन आफ़ इङ्गलेंड" आदि पुस्तकों को राजद्रोह से पूर्ण बतलाने का साहस कर सकता है। तब "सत्यार्थ प्रकाश" पर ही यह दुलत्तियां क्यों? इस प्रश्न का उत्तर देना जहां कष्टदायक है वहां कठिन भी है। अतएव इस विषय में विशेष न लिख कर केवल इतना ही कहना है कि सन् १९०९ में जब *पटियाला आर्य समाज पर घोर विपत्ति आ रही थी तब उस समय पञ्जाब के तत्कालीन छोटे लाट सर लुईसडेन ने एक चिट्ठी, लाहोर आर्यसमाज को इस विषय की भेजी थी, जिसमें उन्होंने स्पष्ट लिखा था कि वे आर्यसमाज को राजद्रोही समाज नहीं समझते हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या किसी आर्यसमाज को राजनीति में भाग नहीं लेना चाहिये। इस प्रश्न की मीमांसा, स्थिर गम्भीर और धीर चित्तहोकर करनी चाहिये। हम ऊपर लिख आये हैं कि राजनीति देशभक्ति राजद्रोह में बहुत भेद है ज़मीन आसमान का भेद है। और भी बुद्धिमान तीनों शब्दों का अर्थ एक नहीं कर सकता है। राजकार्य से परिचित होना राजनीति है। नागरिक (citizen) का राजनीति से प्रत्यक्ष

---

*पटियाला के कतिपय आर्य समाजी सज्जन इस समय भी हमारे सिक्ख भाइयोंके कोपभाजन होने के कारण कष्ट भुगत रहे हैं।

संबन्ध है सरकार की सेवा करना और किसी अपने देश के कष्ट पर आन्दोलन करके सरकार से प्रार्थना करना. राजनीति और देश भक्ति दोनों हैं। सब आर्यसमाजी केवल साधु-संन्यासी और फ़क़ीर तो होते ही नहीं हैं। वे भी नागरिक होते हैं। जब एक आर्यसमाजी नागरिक की हैसियत में राजनीति में भाग लेता है तब क्या बुराई है? लेकिन वह स्वयं अपने विचारों का उत्तरदाता है आर्यसमाजका उसके विचारों से कोई सम्बन्ध नहीं है जब आर्यसमाज का एक सभासद डिप्टी कलक्टर हो सकता है तब वह राजनीति से कैसे बच सकता है? डिप्टी कलेक्टर सभासद का आर्यसमाज के विचार से सम्बन्ध नहीं है। वह उसके विचारों और काम का आर्यसमाजसे कोई सरोकार नहीं है। हमारे बड़े लाट, श्रीमान् लार्ड हार्डिञ्ज से बढ़कर इस समय भारतवर्ष में राजनैतिक पुरुष कौन है? कोई नहीं, किन्तु वे राजकार्य को करते हुए भी अपने गिरजे में जाते हैं। परन्तु गिरजेमें पहुंच कर वे राजनीति ही की बातें नहीं करते रहते हैं। इसभांति आर्यसमाज का सभासद राजसेवा और राजनीति में भाग लेता हुआ, आर्यसमाज में जा सकता है, परन्तु आर्यसमाज में उसको चाहिये कि अपनी राजसेवा अर्थात् राजनीति की कुछ बातें न करे। आर्यसमाज का जो उद्देश्य है, आर्यसमाज के जो नियम हैं, आर्यसमाज के साप्ताहिक अथवा विशेष अधिवेशनों में जो कार्य नियमित रूप से होते हों उन्हीं का पालन करें। समाज से बाहर प्रत्येक मनुष्य अपने विचारोंका आप उत्तरदाता है तबही तो ऋषि दयानन्द कहते हैं "सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियमों को पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और

प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें"।

ऋषि का सन्देश

क्या आर्यकुमार सभाओं की आवश्यकता नहीं है?

दयानन्द की संक्षिप्त जीवनी, और संक्षिप्त उपदेश पाठकों की भेंट किये जाचुके हैं। उनकी जीवनी से जो शिक्षाएं प्राप्त होती हैं। उनका भी दिग्दर्शन किया जा चुका है। केवल इतिनाही निवेदन है कि ऋषि दयानन्द की चाहे जीवनी को देख लीजिये, चाहे उपदेश को पढ़ लीजये उस में ब्रह्मचर्य्य विना अन्य आश्रम ठीक नहीं हो सकते हैं।

ब्रह्मचर्य्य के दो अङ्ग हैं, एक वीर्य्यरक्षा और दूसरा विद्याप्राप्ति। इस समय भारतवर्ष में ब्रह्मचर्य्य के इन दोनों अङ्गों की विशेष आवश्यकता है और यह आवश्यकता तब तक पूरी नहीं हो सकती है जब तक नवयुवकों का चरित्र गठन न किया जायगा। हमारे देश के न उभरने का अथवा यों कहिये पूरी तरह से जागृति न होने का यह भी कारण है कि हमारे प्रौढ़ और वृद्ध पुरुष नवयुवकों से ऐसे कांपते हैं जैसे खांसी से कोई बीमार आदमी कांपता हो अथवा डरता हो। यद्यपि इस समय कितने ही स्थानों में आर्यकुमारसभा, आर्यमित्रसभा आर्य-विद्यार्थी समाजें स्थापित हो गई हैं परन्तु जहां तहां कई आर्यसमाजों के सभासद् बेचारे नवयुवकों के सामने खम-ठोंक कर लड़ने को तैयार हो जाते हैं बहुत से आर्यसमाजों के सभासद, नवयुवकों की सभाओं के आर्यसमाज मन्दिरों

में अधिवेशन भी नहीं होने देना चाहते। परन्तु सच पूछिये तो ऋषि ने जो बार बार ब्रह्मचर्य का सन्देश दिया है वह सन्देश कभी नवयुवकों को साथ लिये बिना पूरा नहीं हो सकता है।

इस विषय में हमको अङ्गरेज़ों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये, एक वृद्ध अङ्गरेज़ नवयुवकों के साथ मिलता है, उनके साथ खेलता है, इसमें उसको कुछ लज्जा नहीं मालूम होती? इसका कारण क्या है? कारण यह है कि वह समझता है नवयुवकों के साथ बिना मिले जुले उनका चरित्र अपने विचारानुकूल संगठन नहीं कर सकता है। उनके भाव नहीं बदल सकता है, यही कारण है कि वह अपनी वृद्धावस्था का कुछ विचार न करके उनके साथ अपने मित्रों के समान बर्तता है। परन्तु शोक है कि हमारे यहां कहीं पर आर्यकुमार सभा आर्य मित्रसभा तथा आर्य विद्यार्थी सभा स्थापित हुई कि उसके साथ विरोध की ठन जाती है। लोग कहने लगते हैं कि विद्यार्थियों को अलग सभा की आवश्यकता नहीं है वे समाजों में आवें और वहीं पर उपदेशों को सुनकर अपने विचारों को सुधारें परन्तु ऐसा कहनेवाले भूलते हैं. यदि वे कुछ मनोविज्ञान से परिचित हों तो सोच लें कि नवयुवक नवयुवकों के बीच में जिस भांति स्वतन्त्रता पूर्वक अपने विचार प्रकट कर सकता है. उतने और कहीं नहीं। दूसरे नवयुवक गण अपनी पृथक सभा बनाने में कार्य्य करना सीखते हैं। इस विषय में हम स्वयं कुछ न कह कर लोकमान्य लाला लाजपतराय के वे शब्द उद्धृत करते हैं जो उन्होंने आर्यकुमार सम्मेलन के तृतीय अधिवेशन के सभापति की हैसियत में कहे थे। लाला जी के शब्द ये हैं—"आर्यकुमार सभा एक

प्रकार की शिक्षाशाला है जहां युवक विश्वविद्यालय अर्थात् समाज में प्रविष्ट होने को तैयार किये जाते हैं एक कुमार के वास्ते प्रथमतः यह आवश्यकीय है कि वह आर्यसमाज की धर्मशिक्षा को ग्रहण करे।" वास्तव में आर्यसमाज के उद्देश्यों का प्रचार करना है तो नवयुवकों के हृदय पटल पर उनको अङ्कित कीजियेगा।

कोई कोई सज्जन कहते हैं कि नवयुवकों को केवल पढ़ने के अतिरिक्त और कुछ काम नहीं करना चाहिये जिन लोगों के ऐसे विचार हैं उनकी सेवा में मेरा निवेदन है कि ये एकवार ध्यानपूर्वक सोचें मनुष्य का मस्तिष्क चौबीसों घंटे पढ़ने में नहीं लग सकता है, कभी न कभी विश्राम चाहता है आख़िर को प्रमोद की ओर रुचि होती है। परिश्रम करते करते तबियत थक जाती है तब क्या किया जाय? क्या ताश खेलनेकी अपेक्षा आर्यकुमार सभाओं में सम्मलित होना बुराई है? मेरी तुच्छ बुद्धि में हमारे नवयुवा विद्यार्थीगण जहां और प्रकार के आमोद प्रमोद करते हैं यदि वहां वे सभाओं का आमोद प्रमोद कर लिया करें तो कुछ अनुचित नहीं है। सभाओं में सम्मिलित होनेसे विद्यार्थियों के पढ़ने लिखने में बाधा नहीं पहुंचती है वरन् उन्हें सहायता मिलती है। पाठशाला की नियत पुस्तकों के अतिरिक्त वे बाहर की बहुत सी बातें सीख जाते हैं। इसलिये ब्रह्मचर्य्य के जो दो अङ्ग हैं वीर्यरक्षा और विद्याप्राप्ति उनके बिना आर्य्यकुमार सभा की सहायता के कदापि प्राप्त नहीं हो सकते हैं। स्मरण रखो, जिस जाति ने अपनी आनेवाली सन्तान के अच्छे संस्कारों

की चेष्टा नहीं की वह जाति कदापि नहीं उठ सकती है। बिना आर्यकुमारों की सहायता के ऋषि का उद्देश्य पूर्ण नहीं होसकता है।

॥ इति ॥